लेखक का निवेदन।

साहित्य-संसार में अच्छे जीवन-चरित्रों का, कितना महत्व है, इस पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। अच्छे जीवन चरित्र साहित्य में नया जीवन फूँक देते हैं। उनका प्रभाव केवल साहित्य तक ही परिमित नहीं रहता, वरन उनसे हमारे बढ़ते नवयुवकों के हृदयों में एक प्रकार की दिव्य स्फूर्ति भी उत्पन्न होती है और संसार में महापुरुष होने की अभिलाषा उदय होने लगती है। इसलिये केवल साहित्य के विस्तार ही के लिये नहीं, किन्तु देश के नवयुवक-समाज में नई ... डालकर उसके कार्य्यक्षेत्र पर अनुपम प्रकाश फैलाने के लिये भी महान पुरुषों के जीवन-चरित्रों की बड़ी आवश्यकता है। इसी आवश्यकता का विचार कर, मैंने अपनी तुच्छ योग्यता के अनुसार, भारत का मस्तक ऊँचा करने वाले, प्रतिभाशाली कविवर रवीन्द्रनाथ का जीवन-चरित्र लिखा है। इस चरित्र में ठाकुर महोदय के जीवन की ...गत घटनाओं को उतना महत्व नहीं दिया गया है जितना उनके चरित्र और विचारों को दिया गया है। यथार्थ में वही सच्चा जीवन-चरित्र है जिसमें पिछली दोनों बातों का समावेश हो। यहाँ यह कह देने की आवश्यकता है कि ऐसे प्रतिभाशाली महापुरुष का जीवन-चरित्र लिखने की यथार्थ योग्यता मुझमें नहीं है। कविवर के मानसिक तथा आत्मिक विकास का ठीक ठीक चित्र खींचना उन्हीं महानुभावों के लिये सम्भव

है, जिन्होंने न केवल साहित्य और काव्य-संसार के रहस्य ही को जाना है, वरन जिन्होंने उस अनन्त परमात्मा से एकता-लाभ का दिव्य अनुभव प्राप्त किया है। यदि कोई ऐसा उन्नत महात्मा इस जीवनी को लिखता तो इसमें बड़ी ही अलौकिकता दीख पड़ती। ऐसी आत्मा की दिव्य लेखनी से निकले हुए जीवन-चरित्र के अभाव में मैंने यह अल्प प्रयत्न किया है। मैं समझता हूं कि इसमें मुझे सफलता के बदले प्रायः असफलता ही अधिक हुई है। फिर भी मुझे आशा है कि इसमें वा लों कविवर के जीवन-चरित्र की कुछ बातें हिन्दी पाठकों को अवश्य मालूम होंगी। इसीसे, असफलता का भय रहते पर भी, इसे लिखने से मुझे कुछ मानसिक सन्तोष हुआ है।

इस पुस्तक को लिखने में मुझे निम्न-लिखित ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिली है—

कविवर के ग्रन्थ।

गीताञ्जलि, नैवेद्य, गार्डनर (अंग्रेजी), शिशु, शान्तिनिकेतन, आत्मस्मृति, आदि।

अन्य ग्रन्थ।

रवीन्द्र साहित्ये भारतेर वाणी (बंगला)।

The philosophy of Rabindranath, by prof. Krishnan.

Rabindranath, by Ramswami Ayar.

लेखक का निवेदन ।

साहित्य-संसार में अच्छे जीवन-चरित्रों का, कितना महत्व है, इस पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। अच्छे जीवन चरित्र साहित्य में नया जीवन फूँक देते हैं। उनका प्रभाव केवल साहित्य तक ही परिमित नहीं रहता, वरन उनसे हमारे बढ़ने हु नवयुवकों के हृदयों में एक प्रकार की दिव्य स्फूर्ति भी उत्प होती है और संसार में महापुरुष होने की अभिलाषा उदय होने लगता है। इसलिये केवल साहित्य के विक ही के लिये नहीं, किन्तु देश के नवयुवक-समाज में नई ज डालकर उसके कार्य्यक्षेत्र पर अनुपम प्रकाश फैलाने के लिये भी महान पुरुषों के जीवन-चरित्रों की बड़ी आव-कता है। इसी आवश्यकता का विचार कर, मैंने अपी तुच्छ योग्यता के अनुसार, भारत का मस्तक ऊँचा क-वाले, प्रतिभाशाली कविवर रवीन्द्रनाथ का जीवन-चत्र लिखा है। इस चरित्र में ठाकुर महोदय के जीवन की सा-रण घटनाओं को उतना महत्व नहीं दिया गया है जितना कि चरित्र और विचारों को दिया गया है। यथार्थ में वही चा जीवन-चरित्र है जिसमें पिछली दोनों बातों का समावेश हो। यहाँ यह कह देने की आवश्यकता है कि ऐसे प्रतिभाशाली महापुरुष का जीवन-चरित्र लिखने की यथार्थ योग्यता मुझमें नहीं है। कविवर के मानसिक तथा आत्मिक विकास का ठीक ठीक चित्र खींचना उन्हीं महानुभावों के लिये संभव

है, जिन्होंने न केवल साहित्य और काव्य-संसार के रहस्य ही को जाना है, वरन जिन्होंने उस अनन्त परमात्मा से एकता-लाभ का दिव्य अनुभव प्राप्त किया है। यदि कोई ऐसा उन्नत महात्मा इस जीवनी को लिखता तो इसमें बड़ी ही अलौकिकता दीख पड़ती। ऐसी आत्मा की दिव्य लेखनी से निकले हुए जीवन-चरित्र के अभाव में मैंने यह अल्प प्रयत्न किया है। मैं समझता हूं कि इसमें मुझे सफलता के बदले प्रायः असफलता ही अधिक हुई है। फिर भी मुझे आशा है कि इससे रवीन्द्र कविवर के जीवन-चरित्र की कुछ बातें हिन्दी पाठकों को अवश्य मालूम होंगी। इसीसे, असफलता का भय रहने पर भी, इसे लिखने में मुझे कुछ मानसिक सन्तोष हुआ है।

इस पुस्तक को लिखने में मुझे निम्न-लिखित ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिली है—

कविवर के ग्रन्थ।

गीतांजलि, नैवेद्य, गार्डनर (अंग्रेजी), शिशु, शान्तिनिकेतन, आत्मस्मृति, आदि।

अन्य ग्रन्थ।

रवीन्द्र साहित्ये भारतेर वाणी (बँगला)।

The philosophy of Rabindranath, by prof. Krishnan

Rabindranath, by Ramswami Ayar.

लेखक का निवेदन ।

साहित्य-संसार में अच्छे जीवन-चरित्रों का, कितना महत्व है, इस पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। अच्छे जीवन चरित्र साहित्य में नया जीवन फूँक देते हैं । उनका प्रभाव केवल साहित्य तक ही परिमित नहीं रहता, वरन उनसे हमारे बढ़ने हुए नवयुवकों के हृदयों में एक प्रकार की दिव्य स्फूर्ति भी उत्पन्न होती है और संसार में महापुरुष होने की अभिलाषा उदय होने लगता है । इसलिये केवल साहित्य के विकाश ही के लिये नहीं, किन्तु देश के नवयुवक-समाज में नई जान डालकर उसके कार्य्यक्षेत्र पर अनुपम प्रकाश फैलाने के लिये भी महान पुरुषों के जीवन-चरित्रों की वड़ी आवश्यकता है। इसी आवश्यकता का विचार कर, मैंने अपनी तुच्छ योग्यता के अनुसार, भारत का मस्तक ऊँचा करनेवाले, प्रतिभाशाली कविवर रवीन्द्रनाथ का जीवन-चरित्र लिखा है । इस चरित्र में ठाकुर महोदय के जीवन की साधारण घटनाओं को उतना महत्व नहीं दिया गया है जितना कि चरित्र और विचारों को दिया गया है । यथार्थ में वही सच्चा जीवन-चरित्र है जिसमे पिछली दोनों बातों का समावेश हो। यहाँ यह कह देने की आवश्यकता है कि ऐसे प्रतिभाशाली महापुरुष का जीवन-चरित्र लिखने की यथार्थ योग्यता मुझमें नहीं है। कविवर के मानसिक तथा आत्मिक विकाश का ठीक ठीक चित्र खींचना उन्हीं महानुभावों के लिये सम्भव

है, जिन्होंने न केवल साहित्य और काव्य-संसार के रहस्य ही को जाना है, वरन जिन्होंने उस अनन्त परमात्मा से एकता-लाभ का दिव्य अनुभव प्राप्त किया है। यदि कोई ऐसा उन्नत महात्मा इस जीवनी को लिखता तो इसमें बड़ी ही अलौकिकता दीख पड़ती। ऐसी आत्मा की दिव्य लेखनी से निकले हुए जीवन-चरित्र के अभाव में मैंने यह अल्प प्रयत्न किया है। मैं समझता हूँ कि इसमें मुझे सफलता के बदले प्रायः असफलता ही अधिक हुई है। फिर भी मुझे आशा है कि इससे बंगाली कविवर के जीवन-चरित्र की कुछ बातें हिन्दी पाठकों को अवश्य मालूम होंगी। इसीसे, असफलता का भय रहते पर भी, इसे लिखने से मुझे कुछ मानसिक सन्तोष हुआ है।

इस पुस्तक को लिखने में मुझे निम्न-लिखित ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिली है—

कविवर के ग्रन्थ।

गीतांजलि, नैवेद्य, गार्डनर (अंग्रेजी), शिशु, शान्तिनिकेतन, आत्मस्मृति, आदि।

अन्य ग्रन्थ।

रवीन्द्र साहित्ये भारतेर वाणी (बंगला)।

The philosophy of Rabindranath by prof. Krishnan.

Rabindranath by Ramaswami Ayer

लेखक का निवेदन।

साहित्य-संसार में अच्छे जीवन-चरित्रों का, कितना महत्व है, इस पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। अच्छे जीवन चरित्र साहित्य में नया जीवन फूँक देते हैं। उनका प्रभाव केवल साहित्य तक ही परिमित नहीं रहता, वरन उनसे हमारे बढ़ने हुए नवयुवकों के हृदयों में एक प्रकार की दिव्य स्फूर्ति भी उत्पन्न होती है और संसार में महापुरुष होने की अभिलाषा उदय होने लगता है। इसलिये केवल साहित्य के विस्तार ही के लिये नहीं, किन्तु देश के नवयुवक-समाज में नई जान डालकर उसके कार्य्यक्षेत्र पर अनुपम प्रकाश फैलाने के लिये भी महान पुरुषों के जीवन-चरित्रों की बड़ी आवश्यकता है। इसी आवश्यकता का विचार कर, मैंने अपनी तुच्छ योग्यता के अनुसार, भारत का मस्तक ऊँचा करने वाले, प्रतिभाशाली कविवर रवीन्द्रनाथ का जीवन-चरित्र लिखा है। इस चरित्र में ठाकुर महोदय के जीवन की साधारण घटनाओं को उतना महत्व नहीं दिया गया है जितना उनके चरित्र और विचारों को दिया गया है। यथार्थ में वही सच्चा जीवन-चरित्र है जिसमें पिछली दोनों बातों का समावेश हो। यहाँ यह कह देने की आवश्यकता है कि ऐसे प्रतिभाशाली महापुरुष का जीवन-चरित्र लिखने की यथार्थ योग्यता मुझ में नहीं है। कविवर के मानसिक तथा आत्मिक विकास का ठीक ठीक चित्र खींचना उन्हीं महानुभावों के लिये सम्भव

है, जिन्होंने न केवल साहित्य और काव्य-संसार के रहस्य ही को जाना है, वरन जिन्होंने उस अनन्त परमात्मा से एकता-लाभ का दिव्य अनुभव प्राप्त किया है। यदि कोई ऐसा उन्नत महात्मा इस जीवनी को लिखता तो इसमें बड़ी ही अलौकिकता दीख पड़ती। ऐसी आत्मा की दिव्य लेखनी से निकले हुए जीवन-चरित्र के अभाव में मैंने यह अल्प प्रयत्न किया है। मैं समझता हूं कि इसमें मुझे सफलता के बदले प्रायः असफलता ही अधिक हुई है। फिर भी मुझे आशा है कि इसमें बंगाली कविवर के जीवन-चरित्र की कुछ बातें हिन्दी पाठकों को अवश्य मालूम होंगी। इसीसे, असफलता का भय रहने पर भी, इसे लिखने से मुझे कुछ मानसिक सन्तोष हुआ है।

इस पुस्तक को लिखने में मुझे निम्न-लिखित ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिली है—

कविवर के ग्रन्थ।

गीतांजलि, नैवेद्य, गार्डनर (अंग्रेजी), शिशु, शान्तिनिकेतन, आत्मस्मृति, आदि।

अन्य ग्रन्थ।

रवीन्द्र साहित्ये भारतेर वाणी (बँगला)।

The philosophy of Rabindranath, by prof. Krishnan.

Rabindranath, by Ramswami Ayar.

समाज (हिन्दी अनुवाद)।
शिक्षा " "
स्वदेश " "
प्रवासी के कुछ लेख।
मासिक मनोरंजन (मराठी) का एक लेख।
Every man's Review का एक लेख।

इन अनेक ग्रन्थों की बहुमूल्य सहायता के लिए मैं
कर्ताओं को हृदय से धन्यवाद देता हूं।

इस ग्रन्थ की रचना में तथा रवीन्द्रनाथ के समझ
मुझे नागपुर की म्युनिसिपेलिटी के भूतपूर्व एक्जिक्यु
अफसर, इन्दौरनिवासी श्रीयुत डा० श्रीधर सोमेश्वर व्यास, ए
ए०, एल० एल० बी० से जो बहुमूल्य सहायता मिली
उसके लिए मैं उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता
आप हमेशा अपना बहुमूल्य समय खर्च कर मुझे रवीन्द्र
की कठिन समस्याओं को समझाते थे। यदि इस पुस्तक में
कुछ सफलता हुई हो तो वह आप ही की कृपा का फल है।

विनीत,
सुखसम्पतिराय भण्डारी,
हिन्दी सम्पादक, "मल्हारि-मार्तण्ड-विजय," इन्दौर

प्रकाशक की सूचना।

"राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर" के उद्देश के अनुसार जो पुस्तकें इस संस्था के द्वारा भिन्न भिन्न मालाओं में प्रकाशित होंगी उनका मूल्य किसी भी अवस्था में लागत से अधिक न रक्खा जायगा, और जहाँ तक होगा लागत से भी कुछ कम दामों पर ये पुस्तकें बेची जायँगी। इस लागत में केवल लेखक का पुरस्कार, छपाई का खर्च और कागज के दाम शामिल किये जायँगे, कार्यालय और प्रचार (अर्थात् विज्ञापन, एजेन्टों और पुस्तकालयों का कमीशन तथा स्थायी ग्राहकों की छूट आदि) का व्यय इस पर न लादा जायगा। आशा है, इस उपाय से हिन्दी में उपयोगी साहित्य का विस्तार और प्रचार बढ़ेगा। इस कार्य में हम लोग गुजराती के "सस्तुं-साहित्य-वर्द्धक-कार्यालय" (बम्बई और अहमदाबाद) का अनुकरण करके जन-शिक्षा की समस्या में आर्थिक हानि सहकर भी हाथ बँटाने का प्रयत्न करेंगे। इस पुस्तक में भी हमें आर्थिक हानि उठानी पड़ेगी।

"रवीन्द्र-दर्शन" की लागत का हिसाब यह है।

		रु. आ. पा.
लेखक का पुरस्कार २१०) पुस्तक के दो संस्करणों में बाँटा गया....		१०५—०—०
छपाई का खर्च १४ फार्म (१००० प्रतियाँ)	....	२१०—०—०
१४ रीम कागज के दाम	....	२६६—०—०
टाइटिल पेज, चित्र, आदि	...	४४—०—०
	जोड़	६२५—०—०

इस हिसाब से (जिसमें अन्यान्य मदों की लागत इ
की रकम सम्मिलित नहीं की गई) हम लोग भारी जिल्द
पुस्तक ||=) में और रुपये की जिल्दवाली |||=) में
सकेंगे। आशा है, हमारे इस व्यवहार से ग्राहकों को सन्तो
होगा। ग्राहकों की संख्या बढ़ने तथा छपाई और कागज
खर्च घटने पर हम लोग हिन्दी साहित्य की और भी से
कर सकेंगे।

राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर की,
कार्यकारिणी-समिति।

रवीन्द्र-दर्शन

कवि-सम्राट् डा० रवीन्द्र-नाथ ठाकुर।

रवीन्द्र-दर्शन ।

* पहिला अध्याय । *

कविवर रवीन्द्र का परिचय ।

इस संसार में उन आत्माओं का जीवन कितना धन्य है, जो मानवजाति के विकास के लिये— मानवजाति को गूढ़ ज्ञान का अलौकिक प्रकाश बतलाने के लिये—उसके हृदय को दिव्य प्रकाश से आलोकित करने के लिये—उसकी आत्मा में निवास करने वाले अनन्त सुख, ... और अनन्त प्रतिभा का विकास करने के ... न आत्म-शक्ति के द्वारा उन ... र ईश्वरी प्रभावों को ... ति निराधार अवस्था ... त्मा आत्मा में रहने ... यों को निमित्त बना ... ग करते ही हैं, परन्तु

वही आत्मा है, जिसने अपनी आत्मिक शक्तियों का विकास कर और सृष्टि के दिव्य तथा सौन्दर्यशाली तत्वों में लीन होकर सुमधुर कविता के रूप में अपने वे हार्दिक भाव प्रकाशित किये हैं जिनसे आज सारा सभ्य संसार आलोकित होगया है; और जिन काव्यों से संसार को यह मालूम हुआ है कि ये काव्य बनावटी नहीं—आत्मा में निरंतर रहने वाली अनन्त शक्ति के स्वाभाविक उद्गार हैं। इन काव्यों ने उस सर्वव्यापिनी अलौकिक शक्ति के साथ मानवी आत्मा का संयोग करवाया है; इन कविताओं ने प्रकृति के ढके हुए अनुपम सौन्दर्य-मय और दिव्य शोभायुक्त मुखमण्डल को खोलकर केवल देखा ही नहीं है, पर हृदय के उत्सुक भावों के साथ उसे चूम कर दैवी आनन्द का लाभ भी उठाया है। इन कविताओं से मानवी प्रेम को ईश्वरी प्रेम में मिलाकर प्रेम की अलौकिक आभा का वर्णन किया गया है; इन काव्यों में मानवी प्रकृति और मनुष्य-स्वभाव का बड़ा ही सुन्दर और सुमनोहर चित्र अंकित किया गया है। इन काव्यों ने उन साधनों को प्रगट किया है जिनसे मनुष्य, अपना स्वर उस अनन्त के स्वर में मिला कर, अपने आपको एक प्रकार के दिव्य सुख से प्रभावित कर सके। ये किसकी कविताएँ हैं? ये किसके हृदय के स्वाभाविक उद्गार हैं? अलौकिक लक्षणों से युक्त वह कौन महापुरुष है जिसके गुणों का वर्णन हमने ऊपर किया है तथा जिसकी शक्ति के विकास के फल इस प्रकार के दिव्य

व्य हैं ? ये महापुरुष कोई दूसरे नहीं—भारतमाता के
प्रविख्यात सुपुत्र वही कविसम्राट रवीन्द्र-नाथ ठाकुर हैं,
नके अनुपम काव्यालोक के गुणों पर मुग्ध होकर
सवीं सदी का पाश्चिमात्य जड़वादी संसार भारतीय वेदान्त
अध्यात्मवाद के साम्हने सिर झुका रहा है। इन बातों का
तेयक विवेचन करना आवश्यक है, कि इस महापुरुष
आत्मिक विकास किस प्रकार हुआ, इन्होंने अपनी
त्मिक शक्तियों की उन्नति कैसे की, ये सृष्टिसौन्दर्य-प्रेमी
स प्रकार बने, इनकी कवित्वशक्ति का विकास क्योंकर
ा और अपने मार्ग में जाने के लिये इन्हें किन किन
ोगों से प्रकाश मिला अथवा बाधाएं पड़ीं। इसके साथ ही
भी दिखलाना आवश्यक है, कि इनकी कविताओं में
न कौनसी विशेषताएं है और उनमें कौनसे तत्व छिपे
हैं।

किसी महापुरुष का चरित्र लिखने के पहिले यह बतलाना
वश्यक होता है, कि उसका जन्म किन परिस्थितियों तथा
ोगों में हुआ है, उसके संस्कार कैसे हैं, वह बचपन में किन
गों में रहा हुआ है और उसके आसपास के वायुमण्डल में
न विचारों तथा संस्कारों के तत्व रहे हैं; क्योंकि आजका
तक कुछ वर्षों के बाद युवा होता है, वही युवक बढ़कर
र होता है और जब पुरुष की शक्तियां महत्ता प्राप्त कर लेती
जब उसके गुण विकसित होकर महान बन जाते हैं—

उस समय वही पुरुष महापुरुष बन जाता है । बालकों के शरीर, बुद्धि आदि की वृद्धि सभी देखते हैं, अतएव उस विषय में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं । परन्तु इस विषय पर प्रकाश डालने की बड़ी भारी आवश्यकता है, कि किन गुणों के विकास से—किन शक्तियों की महत्ता से—बालक पुरुष बनकर पुरुष महापुरुष बन जाता है । महाकवि रवीन्द्रनाथ का चरित्र लिखते समय हम यथाशक्ति इसी उद्देश का अनुसरण करेंगे ।

कवि-सम्राट रवीन्द्रनाथ का जन्म उस महापुरुष के घर में हुआ था जिसने अपने पवित्र जीवन, ईश्वरभक्ति और आत्म-प्रकाश से सारे भारतवर्ष को आलोकित कर रखा था । यह आत्मा महर्षि के उच्च पद से गौरवान्वित थी । इस आत्मा के अस्थिर शरीर का नाम देवेन्द्रनाथ टागोर था । इनकी आत्मिक शक्तियां इतनी तेजस्विनी थीं, कि जिनके प्रकाश से भारत का धार्मिक समाज आलोकित हो उठा था । इस दिव्य आत्मा का उज्वल प्रभाव बालक रवीन्द्र पर पड़ा । रवीन्द्रनाथ की माता उनके बचपन ही में परलोकयात्रा कर चुकी थी । उन्हें इस बात का सदैव बड़ा दुःख रहा, कि उन्हें माता के प्रेम का सुख बहुत कम मिल सका । पर आगे चलकर रवीन्द्र ने अपने आप को प्रकृति-माता के पास अर्पण कर दिया और वे प्रकृति से प्रेम करने लगे । उनके पूज्य पिता की दिव्य आत्मा से एक प्रकार की जो अदृश्य प्रकाश—मय किरणें निकलती थीं,

उनका प्रभाव हमारे चरित्रनायक की आत्मा पर पड़ने लगा। कविवर रवीन्द्रनाथ ने अपने बचपन का हाल लिखते हुए अपनी आत्मस्मृति में लिखा है:—

"मैं बहुत ही प्रेमी स्वभाव का था। मैं अपने पिता से बहुत कम मिलता था। जब मेरे पिता घर आते थे, तब सारा घर एक प्रकार के अदृश्य और दिव्य प्रकाश से आलोकित हो उठता था। मेरे जीवन पर पिताजी के अदृश्य प्रभाव का बड़ा भारी असर हुआ है। मैं दिनभर कैदी की तरह नौकरों की देखभाल में रक्खा जाता था। घर की खिड़की में बैठा हुआ मैं यही स्वप्न देखा करता था, कि बाहरी दुनिया में क्या हो रहा है। मुझे स्मरण है कि आरम्भ ही से मैं प्रकृति का बड़ा प्रेमी था। अहा! प्रकृति की छटा देखकर मैं आनंद में बावला हो जाता था। जब आकाश में मैं बादलों की छटा देखता था उस समय मेरा हृदय आनंद से उछल पड़ता था। मुझे मालूम होता है कि बचपन में मेरा एक साथी और घनिष्ट मित्र था। मैं नहीं जानता कि मैं उसका क्या नाम रक्खूं। उसमें प्रकृति के लिये इतना अथाह प्रेम था कि उसे प्रगट करने के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं। प्रकृति-देवी मित्र और साथी बन कर सदा मेरे साथ रहती थी। यह मेरे साम्हने सदैव नये और ताजे सौन्दर्य प्रस्तुत किया करती थी।" अपने बाल्यकाल का वर्णन करते हुए दूसरी [illegible] आप फिर लिखते हैं:—

"बाल्यकाल-रूपी पर्वत की चोटी पर मुझे जो अनन्त आनंद और आश्चर्य होता था, उन्हें दिखलाने की शक्ति शब्दों में नहीं है।" बात यह है, कि कविवर रवीन्द्रनाथ की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही सृष्टिसौन्दर्य के निरीक्षण की ओर थी। इसका दिग्दर्शन उनकी लिखी हुई जीवनस्मृति से होता है। बचपन में वे जिस परिस्थिति में रक्खे गये थे, उसका हाल जानकर आश्चर्य होता है। वे एक अत्यन्त प्रतिष्ठित और समृद्धशाली कुटुम्ब में उत्पन्न हुए थे। जिन लोगों को भारत के प्रतिष्ठित रईसों का घरू हाल मालूम है, वे जानते हैं कि रईसों के लड़के बहुत कम बाहर निकलते हैं। उनके साथ सदैव नौकर रहते हैं। आज्ञा लिये बिना वे घर से बाहर नहीं निकल सकते। इस समय भी कहीं कहीं इस प्रकार की स्थिति देखी जाती है, जहाँ बच्चे कैदी की तरह बंद रक्खे जाते हैं। घूमने फिरने की उन्हें मनाई रहती है। इस समय में भी, जब कि स्वतंत्रता के भावों ने चारों ओर हलचल मचा दी है, यह हाल है, तब रवीन्द्रनाथ के बचपन के समय की दशा तो बहुत बढ़ीचढ़ी होनी ही चाहिये। वह समय आज कोई पचास वर्षों के पहिले का है। अपने बचपन का हाल लिखते हुए कविवर रवीन्द्र लिखते हैं:—

"अपने घर से बाहर निकलने की मनाई तो थी ही, परन्तु घर के सब भागों में भी फिरने की हमें आज्ञा नहीं मिलती थी। बाह्य सृष्टि नाम की कोई अनन्त वस्तु हमसे बिलकुल भिन्न

थी। बाह्य सृष्टि की विशालता की ध्वनि कभी कभी कुछ क्षणों के लिये हमारी आंतरिक सृष्टि के द्वारों में आकर हमारी इन्द्रियों को स्पर्श करती थी। इस समय मुझे मालूम होता था, कि बाह्य सृष्टि स्वतन्त्र है और मैं परतन्त्र हूं।" इसी जीवनस्मृति में आगे चलकर कविवर रवीन्द्र फिर कहते हैं:—

"मुझे बाह्य जगत के साथ संसर्ग करने के लिये बहुत ही कम अवसर मिले। यही कारण है, कि जब मुझे इस संसर्ग का सौभाग्य कभी प्राप्त होता था, तब मुझे अत्यन्त आनंद होता था। जब बाह्य साधनों की विपुलता होती है, तब मन आलसी हो जाता है और वह अपना सब भार बाह्य साधनों पर डाल देता है। **पर यथार्थ आनन्द का अनुभव करने के लिये बाह्य साधनों के बदले अन्तरंग साधनों की तैयारी करने की आवश्यकता है। बालस्वभाव से ये महान सिद्धान्त ग्रहण कर मनुष्यमात्र को इनकी शिक्षा प्राप्त कर लेनी चाहिये।** बचपन में हमारे आधीन बहुत थोड़ी वस्तुएं रहती है, पर इससे बच्चों के आनंद में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती। उन्हें विशेष साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती। जिस भाग्यहीन बालक को उसके मन के अनुकूल खिलौने दिये जाते है, उसका खेलकूद से मिलने वाला आनंद नष्ट हो जाता है।

"बाल्यावस्था के दिनों की ओर दृष्टि डालनेसे जो महत्व-पूर्ण बात सूचित होती है, वह मनुष्यजीवन और विश्व में प्रतीत

होने वाली गूढ़ता अर्थात् अपूर्व भेद की भावना है। उस अवस्था में ऐसा मालूम होता था, कि स्वप्न में भी न देख पड़ने वाली कोई वस्तु आसपास फैली हुई और छिपी हुई है। प्रतिदिन मन में यह भान होता था, मानो प्रकृति-देवी बन्द मुट्ठी को सामने कर यह पूछ रही है कि "बतला, मेरे हाथ में क्या है?" हमे उस वस्तु का विचार तक नहीं आता था।"

इन अवतरणों से पाठकों को रवीन्द्रनाथ के बचपन के संयोगों का तथा उनके प्रकृति-प्रेम का अनुमान अवश्य हुआ होगा। जिस प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल संयोग रवीन्द्रनाथ को प्राप्त हुए थे, वैसे ही मिश्रित संयोग प्राय सब महात्माओं को प्राप्त हुआ करते हैं। संसार में जो आत्मा ऊपर उठने वाली होती है, उसके मार्ग में जहाँ अनुकूल संयोग आकर उसके पथ को सुगम बना देते है, वहाँ प्रतिकूल संयोग भी आकर बीच में बाधा उपस्थित करते है। इस प्रकार के अनुकूल तथा प्रतिकूल संयोगों से मनुष्य को संसार के अनुभव होते है और इनसे उसके जीवन पर एक प्रकार का दिव्य प्रकाश पड़ता है। हमारे चरित्रनायक रवीन्द्र के बाल्यकाल में भी इन अनुकूल और प्रतिकूल संयोगों का अपूर्व मिश्रण हुआ है। हम पहिले लिख चुके हैं, कि रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ की आध्यात्मिक, शान्त, तेजस्वी तथा

को देखकर जिज्ञासा से बालक कोई प्रश्न करे, तो सहानुभूति और प्रेम-पूर्वक उसका उत्तर देना चाहिये। बच्चों की कौतुक-युक्त बातों पर अप्रसन्न होना मानो उनकी कल्पनाशक्ति की बाढ़ को काटना है। इसलिये बच्चों को सृष्टिसौन्दर्य देखने का तथा उन्हें अपनी कल्पनाशक्ति को बढ़ाने का अवसर देना चाहिये। उन्हें पराधीनता की जंजीर में जकड़ना ठीक नहीं। हमारे चरित्रनायक रवीन्द्रनाथ ने अपनी जीवन-स्मृति में इस बात पर बड़ा प्रकाश डाला है। वे नौकरों की देखरेख में रहते थे। उनपर सेवकों का पूर्णतया साम्राज्य था। यह स्थिति उन्हें बचपन में तो बुरी मालूम होती ही थी, पर अब भी वह उन्हें सुख-मय मालूम नहीं होती। उस स्थिति में रहकर उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किये हैं, उनमें से कुछको उन्होंने अपनी जीवन-स्मृति में प्रगट किये हैं। इस सेवकसाम्राज्य का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं:—

"भारतवर्ष के इतिहास में गुलामवंश के राजाओं का समय उन्नतिशील तथा सुख-मय न था। इसी प्रकार मुझे अपने जीवन का वह समय आनंददायक नहीं जान पड़ता, जब मुझपर नौकरों का साम्राज्य था। उस समय राजाओं में परिवर्तन बहुत हुआ करता था। परन्तु मुझ पर रखे हुए सख्त पहरे में तथा क्रूर नियमों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जाता था। उस समय मुझे बाहरी बातों पर विचार

करने तक का मौका नहीं मिलता था। उस समय मुझे यह मालूम होता था, कि बड़े दुःख देने के लिये और छोटे दुःख सहने के लिये बनाये गये हैं। यह सिद्धान्त मुझे विश्व का अनादि नियम मालूम होता था। इस बात को सोचने में मुझे बहुत समय लगा कि "बड़े सहते हैं और छोटे दुःख देते हैं।" बचों पर रखे जानेवाले इस प्रकार के बंधन कितने हानिकर होते हैं, इनसे बचों का विकास किस प्रकार रुकता है, उनकी स्वाभाविक शक्तियों के विकास में कैसी बाधा पहुंचती है और इस प्रकार के बंधन रखने से घर वालों को भी किस प्रकार व्यर्थ का कष्ट उठाना पड़ता है, इन बातों का वर्णन करते हुए हमारे चरित्रनायक लिखते हैं:—

"यदि बालकों को स्वयं उन्हीं पर छोड़ दिया जावे, तो उनके पालन-पोषण का काम बहुत सरल हो जावेगा। परन्तु यदि हम उन्हें घर में कैद रखेंगे, तो हमारे साम्हने सदैव नई नई कठिनाइयां उपस्थित होंगी।"

इस प्रकार के विचार कविवर ने और भी कई जगह प्रगट किये हैं। "शिक्षा" नामक ग्रन्थ में आपने इस बात को बहुत ही अच्छी तरह से सिद्ध किया है, कि बचे की शक्तियों को स्वयं बढ़ने देने का अवसर देना उस बच्चे के भविष्य को प्रकाश-मय बनाना है। मानवजाति के विकास के लिये-देश के उत्थान के लिये-आत्मिक स्वाधीनता सर्वप्रधान है।

देश भविष्य के नागरिक हैं और बाल्यकाल में ही उनका मानसिक संगठन होता है । अतएव ऐसे समय में बच्चों को प्राकृतिक स्वाधीनता देना नितान्त आवश्यक है । जैसे जैसे मानवी सभ्यता का विकास होता जायेगा—ज्यों ज्यों मनुष्य-स्वभाव का अधिकाधिक ज्ञान होता जायेगा—त्यों त्यों इस तत्व की उपयोगिता विशेष रूप से ध्यान में आने लगेगी । एक समय वह था, जब कि बच्चों को पाठशाला कैदखाने की तरह मालूम होती थी । पाठशाला जाते समय वे बुरी तरह रोते थे। शिक्षक उन्हें यमदूत सा लगता था । बच्चों के हृदय में स्वभावतः रहने वाले प्रेम का आकर्षण प्रेममय शब्दों से करने के बदले शिक्षक उनसे इस तरह से पेश आता था, मानो वह खाने को दौड़ता हो । हमारे चरित्रनायक कवि-सम्राट रवीन्द्रनाथ के जीवन में भी ऐसे प्रसंग आये हैं । वे एक नार्मल स्कूल में भरती किये गये थे । वहाँ का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं —

“नार्मल स्कूल के विषय में मेरी स्मृति ज्यों ज्यों अधि-काधिक स्पष्ट और स्वच्छ होती जाती है, त्यों त्यों मुझे मालूम होता है कि उसमें ध्यान देने [illegible] आनन्द-दायक कुछ भी [illegible] ग अन्य [illegible] उतनी [illegible] मित्रता

छुड़ाना चाहते थे। इन्हें स्कूल भयावना लगता था। अधिक क्या कहें, पाठशालाओं की यंत्रनाओं से पिंड छुड़ाने के लिये वे बीमार पड़ने तक की चेष्टाएं करते थे। इनके पूज्य पिताजी को इनके इस दुःखमय जीवन का हाल मालूम हुआ। उन्हों ने अपने प्यारे लड़के को स्कूल से निकाल कर खानगी शिक्षकों के पास सुशिक्षित बनाने का प्रबन्ध किया।

रवीन्द्र की शिक्षा के लिये नार्मल स्कूल का एक अध्यापक नियुक्त किया गया। यह अध्यापक इन्हें बँगला साहित्य-शिक्षिका, लेखन-माला, विज्ञान की पाठमाला और मेघनाद पढ़ाता था। रवीन्द्रनाथ के बड़े भाई की इच्छा थी, कि रवीन्द्र विविध प्रकार का ज्ञान प्राप्त करें। इससे रवीन्द्र को बहुत परिश्रम उठाना पड़ता था और बहुत सा अध्ययन करना पड़ता था। उन्हें इसी समय ड्राइंग और अंग्रेजी की शिक्षा भी साथ ही साथ दी जाती थी। संध्यासमय सीतानाथदत्त नामक एक सज्जन उन्हें सङ्गीत सिखलाने के लिये आते थे। हरएक रविवार को एक अध्यापक आकर उन्हें विज्ञान के प्रयोग भी दिखलाता था। रविवार ही के दिन एक घंटा ऐसा नियत किया गया था, जिसमें वैद्यकशास्त्र का एक विद्यार्थी रवीन्द्र को शरीरशास्त्र का परिचय कराता था। शरीर की चीर-फाड़ कर यह रवीन्द्र को शरीर की आन्तरिक रचना की जानकारी कराता था। पण्डित हेरम्भ

नत्वरत्न उन्हें संस्कृत व्याकरण के नियम रटाने के लिये आते थे। रवीन्द्रनाथ को इस समय जैसा परिश्रम करना पड़ता था, उसको स्वयं वे ही बतला सकते हैं। एक ओर तो उन्हें शारीरशास्त्र के अत्यन्त कठिन और अपरिचित शब्दों को तथा व्याख्याओं को याद करना पड़ता था और दूसरी ओर कौमुदी जैसे क्लिष्ट ग्रन्थ के सूत्रों को कंठस्थ कर उन्हें समझना पड़ता था। इतना ही नहीं, इनके साथसाथ उन्हें अन्य कई विषय भी सीखने पड़ते थे। हम ऊपर कह चुके हैं, कि इसी समय आप अंग्रेजी भी सीखते थे। विदेशी भाषा का सीखना कितना अरुचिकर और क्लिष्ट होता है, यह बात रवीन्द्रनाथ ने अपनी "आत्मस्मृति" में इस प्रकार प्रगट की है:—

"अघोर बाबू में हमारी दृष्टि से एक बड़ा दोष था। वह यह है, कि वे संध्यासमय हमें अंग्रेजी पढ़ाने के लिये आते थे! सारे दिन की नीरस शिक्षा के बाद साक्षात देवता भी आकाश से उतर दीपक लगाकर यदि बंगाली विद्यार्थियों को अंग्रेजी सिखाने बैठें, तो वह भी यमदूत सा लगेगा। मुझे याद है, कि मेरे शिक्षक ने मेरे चित्त पर अंग्रेजी भाषा की आकर्षणशक्ति का प्रभाव डालने की पूरी चेष्टा की थी। अपना हेतु सिद्ध करने के लिये वे एक बार मुझे अंग्रेजी गद्यपद्य के कुछ नमूने सुना रहे थे। उनसे मेरे चित्त पर ऐसा असर हुआ कि मैं खिलखिलाकर हँस पड़ा। इसमें अध्यापक

महाशय बहुत नाराज़ हो गये और उन्हों ने मुझे तम दिन निकाल दिया। इस समय अघोर बाबू का यह निश्चय हुआ होगा, कि मुझे गद में लाना कठिन कार्य है।" बचपन में विदेशी भाषा सीखने में चित्त में कितनी स्वाभाविक ग्लानि उत्पन्न होती है, इसका दिग्दर्शन ऊपर के अवतरण से हो सकता है। अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम रखने से बच्चों की जो हानि होती होगी, उसका ज्ञान रवीन्द्र के दृष्टान्त से ठीक ठीक हो सकता है। यह बात भी हमारे चरित्रनायक के उदाहरण से सिद्ध होती है, कि विदेशी भाषा के स्थान में मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने में कितनी अधिक भलाई है। अस्तु, हमें यहाँ इस पर विस्तृत विवेचन नहीं करना है; हमें तो रवीन्द्रनाथ के अनुभव दिखलाना है। हम यह दिखलाना चाहते हैं, कि रवीन्द्रनाथ का आत्मिक विकास कैसे हुआ, उनकी प्रतिभाशक्ति इतनी विकसित कैसे हुई, उनकी कवित्वशक्ति कैसे खिल उठी और ईश्वरी तान में उन्होंने अपना स्वर कैसे मिला दिया।

स्वाभाविक कवि।

अंग्रेज़ी में एक कहावत है, कि "Poet is born-not made" अर्थात् कवि स्वभाव ही से कवि होता है, बनाने से नहीं बनता। कविता बनाने की दिव्य प्रतिभा जिस

आत्मयान में स्वाभाविक रूप से होती है, वही उसका विकास कर अपनी अलौकिक कविताओं से संसार को मुग्ध कर सकता है। कविता क्या वस्तु है? वह हृदय का उद्गार है—आत्मा का शब्द है—ईश्वर की ध्वनि है। भला शब्दों के तोड़ने मरोड़ने से कोई कवि कैसे बन सकता है? यह गुण तो आत्मा ही में स्वाभाविक रूप से होना चाहिये और फिर इस गुण के विकास के लिये वैसे ही सुन्दर संयोग मिलने चाहिये। जब हम रवीन्द्रनाथ की जीवनी की ओर दृष्टि डालते हैं, तो हमें मालूम होता है, कि वे जन्म ही के कवि हैं; उनमें जन्म ही से वह प्रकाशमय प्रतिभा है, जिससे अनन्त-ज्योति परमात्मा को जाकर स्पर्श करने वाली कवितायें निकलती हैं, जो मानवी आत्मा को हिलाकर उसे परमात्म-प्रकाश में लीन कर देती हैं; जो आत्मा को भक्ति के मीठे रस में डुबा देती हैं, जो सृष्टि के अनन्त सौन्दर्य में मन को तल्लीन कर देती हैं और जो सृष्टि के पदार्थों के दैवी सौन्दर्य का दर्शन कराके मानवहृदय में अपूर्व सुख का सञ्चालन करती हैं। इस प्रकार की दिव्य कविताओं के रचने की प्रतिभा रवीन्द्रनाथ में बचपन ही से थी। हम उचित समझते हैं, कि हम रवीन्द्र की जीवनी के उस भाग पर कुछ प्रकाश डालें, जो उनकी कविताओं की रचना से सम्बन्ध रखता है।

कविता का आरम्भ।

आठ वर्ष की अवस्था में ही बालक रवीन्द्र ने कविता बनाना आरम्भ कर दिया था। उनका ज्योति नाम का एक भांजा था। वह उम्र में बड़ा था और अंग्रेजी पढ़ता था। वह शेक्सपियर के सुप्रसिद्ध नाटक "हेम्लेट" का आत्मसम्भाषण बड़े उत्साह के साथ गाकर रवीन्द्र को सुनाता था। उसकी इच्छा हुई, कि रवीन्द्र से कविता बनवाई जावे। उसने एक दिन रवीन्द्र को एक कोठरी में बुलाया और उनसे चौदह पद की एक प्रार्थना की रचना करने के लिये कहा। इस समय तक हमारे चरित्रनायक रवीन्द्र ने कविताएं केवल किताबों ही में देखी थीं। उनके भांजे को तनिक भी विश्वास नहीं था, कि रवीन्द्र को इस काम में सफलता प्राप्त हो सकेगी। परन्तु हमारे बाल-कवि कहते हैं, कि "इस समय मैंने अपनी मर्जी के अनुसार कुछ शब्द जोड़े और वे इस प्रकार जुड़ गये, कि उनकी "प्रार्थना" बन गई।"

"अब मेरी शंका बहुत कुछ दूर हो गई। हमारी जमींदारी पर देखरेख करने वाले कर्मचारी से मैंने एक सफेद नोट-बुक ली और अपने हाथ से उस पर काली लकीरें खींचकर बचपन के बड़े बड़े अक्षरों में कविताएं लिख डालीं। इस प्रकार मैं दिनदिन अधिकाधिक कविताएं बनाने लगा। श्रोताओं को मेरी कविताएं सुनाने में मेरे बड़े भाई बड़ा उत्साह प्रगट करते

थे। वे अभिमान के साथ मेरी कविता लेकर श्रोताओं की खोज करते रहते थे...... । एक दिन "नेशनल पेपर" के सम्पादक नवगोपाल मित्र हमारे मकान पर आये। मेरे भाई ने उनसे कहा:—"देखो नवगोपाल बाबू! रवीन्द्र ने कविता बनाई है। लो, सुनो!" कविता का वाचन प्रारम्भ हुआ। अभी तक मेरी जितनी कविताएं थीं, वे फुटकल थीं—एकत्रित नहीं थी। वे कविताएं इतनी ही थीं, जिन्हें कवि अपनी जेब में ले जा सकता था। लेखक, प्रकाशक, मुद्रक सब कुछ मैं ही था। मेरे भाई मेरी कविताओं की विज्ञप्ति देने में लगे हुए थे। मैंने 'कमल' पर जो कविता बनाई थी, उसे मेरे भाई ने नवगोपाल बाबू के सामने पढ़ना आरम्भ किया। इन कविताओं का अंतिम भाग ज़ोर से गाकर सुनाया गया। बाबू महाशय ने कविता सुन कर "अच्छी है" कहा, पर उन्हों ने हँसते हँसते पूछा, कि इस 'द्विरेफ' का क्या अर्थ है। मुझे ठीक स्मरण नहीं है, कि इस शब्द को मैंने कहाँ से सीखा था, पर सारे काव्य में मैंने अपनी आशा इसी शब्द पर रखी थी। इस शब्द का असर, जैसा मैंने सोचा था, कर्मचारियों पर हुआ, पर नवबाबू पर कुछ नहीं हुआ। यह बड़े आश्चर्य की बात है। वे उल्टी हँसी करने लगे। इससे मैं समझ गया, कि नवबाबू कदर जानने वाले नहीं हैं। इसके बाद मैंने उन्हें अपनी कविता कभी न सुनाई। इस बात को हुए अब बहुत वर्ष बीत गये हैं। मेरी उम्र के

भी बहुत से वर्ष व्यतीत हो गये हैं। पर मेरी कविताओं का परिणाम तो ज्यों का त्यों ही रहा है' नवगोपाल बाबू ने ले ही हँसे, पर मेरी कविता मे 'द्विरेफ' शब्द, मदमस्त भ्रमर की तरह जहाँ का वहाँ, चिपका रहेगा"।

इस अवतरण से यह साफ मालूम होता है, कि रवीन्द्रनाथ में कवित्वशक्ति स्वभाव ही से थी, यह देन उन्हें जन्म ही से उपलब्ध थी। रवीन्द्रनाथ के कोमल अन्तःकरण में सौन्दर्य-युक्त सृष्टि के दर्शन से जो भावनाएं उत्पन्न होती थीं, वे ही कविता के रूप में बाहर निकलती थीं। रवीन्द्रनाथ के संस्कार ही इतने उत्कृष्ट थे, कि उनके हृदय—केन्द्र में ईश्वरी भक्ति की स्फूर्ति हुआ करती है। उनके अंतःकरण से विश्वहित की दिव्य लहरें निकलती रहती हैं। ये उनके स्वाभाविक गुण हैं। उनका अन्तःकरण विश्वसौन्दर्य देख कर बाल्यावस्था में ही अलौकिक आनंद से पुलकित हो जाता था; उनका कोमल मन सुन्दर और मधुर संगीत सुन कर दिव्य आनंद के सरोवर में तैरने लगता था। बचपन ही में जब वे भारतीय कवि चंडी-दास, विद्यापति, तुलसीदास, सूरदास आदि की भक्तिरसपूर्ण कविताओं को पढ़ते थे, तब उनके अन्तःकरण में भक्तिरस का मधुर झरना बहने लगता था और वे उनकी अनंत काव्यसृष्टियों में तल्लीन हो जाते थे, उनके हृदय में दिव्य स्फूर्ति होने लगती थी और इसी स्फूर्ति ने उनकी स्वाभाविक कवित्वशक्ति को प्रकाशित किया। इन दिव्य भावनाओं और अलौकिक

स्फूर्तियों से प्रेरित होकर जब रवीन्द्रनाथ ने कवि के रूप में जन्म लिया अर्थात् जब वे कविता बनाने लगे, उस समय का वर्णन करते हुए उन्हों ने मिस्टर एन्ड्रूस से कहा था:—

"प्रभात का समय था। 'फ्री स्कूल' के मैदान में खड़ा हो कर मैं सूर्योदय की ओर देख रहा था। अपनी दृष्टि दौड़ाने पर मैंने देखा, कि चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश है। यह सारा संसार प्रकाशमय और संगीतमय है। सारा संसार एक मधुर ध्वनि से व्याप्त है। घर, चलते फिरते हुए मानव प्राणी, खेलते हुए बच्चे—सब ही मुझे प्रकाशमय—अवर्णनीय प्रकाशमय—दिख पड़े। इस प्रकार की दृष्टि सात दिनों तक रही। मुझे कष्ट पहुँचाने वाले लोग भी सब मुझे ऐसे मालूम होने लगे मानो वे आनंद के समुद्र हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिये, नहीं नहीं तुच्छ से तुच्छ वस्तु तक के लिये, मेरा अंतःकरण आनंद से—अलौकिक प्रेम से—भर गया। सर्वत्र आनंद ही आनंद हो गया। इस दृश्य से मुझे अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई और इसी अन्तर्दृष्टि को मैंने अपनी कविताओं में समझाने का प्रयत्न किया। तब से मुझे मालूम हुआ, कि जीवन की पूर्णता को—जीवन के मधुर सौंदर्य को—प्रकाशित करना ही उद्देश है। और ये प्रकाशित तब ही हो सकते हैं, जब परदा हटा लिया जावे।"

दिव्य स्फूर्ति है? कितनी आनंदमय स्वर्गीय

भावना है—हृदय का कितना अलौकिक प्रकाश है, जो ऊपर के वाक्यों में दीख पड़ता है ? जिस प्रकार की अलौकिक स्फूर्ति कविवर रवीन्द्र को हुई थी, वैसी ही उनके पूज्य पिता को भी अठारहवें वर्ष में हुई थी। महर्षि देवेन्द्रनाथ ने अपनी जीवनस्मृति में इसका वर्णन किया है। अन्तर केवल इतना ही था, कि रवीन्द्र की स्फूर्ति सौन्दर्य, प्रेम और विश्व की मधुरता से सम्बन्ध रखती थी और महर्षि देवेन्द्रनाथ की स्फूर्ति संसार की असारता तथा ईश्वरी सत्य से। पिता और पुत्र की प्रतिभा का झुकाव भिन्नभिन्न था और इससे स्फूर्ति में भी भिन्नता थी।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखने योग्य है। वह यह है, कि सृष्टिसौन्दर्य को देखने के लिये—ईश्वरी सृष्टि की खूबी को परखने के लिये—आत्मा के विकास की आवश्यकता है। अनंत सुख आत्मा में स्थित है, बाहरी पदार्थों में नहीं। खिले हुए गुलाब के पुष्प में जो सौन्दर्य रखा हुआ है, उसे मूर्ख मनुष्य कुछभी नहीं समझ सकता। पर वही खिला हुआ सुन्दर पुष्प यदि किसी ऐसे मनुष्य के हाथ में दिया जावे, जिसकी आत्मा विकसित है—जिसमें सौन्दर्य की परीक्षा करने की शक्ति जागृत है—तो वह उसे देखते देखते आनंद में मग्न हो जावेगा और उसके हृदय-प्रदेश में आनंद का स्रोत बहने लगेगा। ईश्वरी सृष्टि की अद्भुत कारीगरी और नियम पर वह मुग्ध

हो जावेगा। उसे एक प्रकार का अलौकिक आनंद प्राप्त होगा। चाहे कितना ही सुन्दर पदार्थ क्यों न हो, पर यदि देखने वाले में अन्तर्दृष्टि नहीं है, तो उसे उससे आनंद नहीं होगा। इस बात को रवीन्द्रनाथ ने अपनी आत्मस्मृति में प्रगट किया है। वे अपने पूज्य पिता के साथ हिमालय की यात्रा को गये। आपकी यह धारणा थी, कि प्रकृति के अखिल और अद्भुत श्रृंगार से सुसज्जित पर्वतराज हिमालय के दर्शन से अपूर्व आनंद मिलेगा। पर वहाँ जाने पर पीछे उन्हें मालूम हुआ, कि यह भूल थी। आप कहते हैं कि:–

"हिमालय कितना ही उच्च और विशाल क्यों न हो, पर वह हमारे हाथ में बनी बनाई चीज़ नहीं रख सकता। अखण्ड विश्व को देखने के लिये हमारी आत्मा के द्वारों को केवल ईश्वर ही खोल सकता है।"

इसका निष्कर्ष यह है, कि सृष्टि में सुख प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अपनी आत्मा का–आत्मिक शक्तियों का–विकाश करना चाहिये। आत्मा में अनंत सुख, अनंत सौन्दर्य और अनंत शक्ति भरी हुई है, परन्तु उस पर परदा पड़ जाने के कारण ये वस्तुएं मलिन दशा में रहती हैं। इस परदे के हटते ही अनंत सुख और सौन्दर्य का अवतार परमात्मा मनुष्य के हृदय में आसन लगाकर बैठा मिलेगा और चारों ओर आनंद ही आनंद दीख पड़ेगा। उसे ईश्वर के अनंत प्रेम, अनंत

शान्ति और करुणा का दर्शन होगा। सारांश यह है, कि उसकी आत्मा दिव्य हो जावेगी और उसे यह अखिल विश्व दिव्यतामय, सौन्दर्यमय, आनंदमय दिखने लगेगा। उसे मालूम होने लगेगा, कि उसकी आत्मा सर्वव्यापी आत्मा में मिल गई है और साथ ही उसे ऐसा ज्ञान पड़ेगा, कि वह अनंत जीवन में प्रवेश कर रहा है—अनन्त के साथ विवाह कर रहा है। उसको एक अलौकिक प्रकाश दिखने लगेगा। रवीन्द्र बाबू ने 'गीताञ्जलि' में इस प्रकाश का अत्यन्त मधुर विवेचन किया है। हम पाठकों की कौतूहल-शान्ति के लिये यहां एक छोटा सा अंश उद्धृत करते हैं —

"प्रकाश, मेरे प्रकाश, भुवन को भरने वाले प्रकाश, नयनों को चुम्बने वाले प्रकाश, हृदय को मधुर करने वाले प्रकाश, ऐ मेरे प्यारे प्रकाश, तू मेरे जीवन के केन्द्र पर नृत्य कर रहा है। प्रकाश मेरे प्रेम की वीणा बजा रहा है, प्रकाश से आकाश में जागृति होती है, वायु वेग से बहती है और सारी पृथ्वी हँसने लगती है। प्रकाश के सागर में तितलियां अपने पंख फैला देती हैं। प्रकाश की तरंगों की चोटी पर मल्लिका और मालती हिलोरें मारती हैं। मेरे प्यारे प्रकाश की किरणें बादलों पर पड़कर स्वर्णरूप हो जाती हैं और सहस्त्रसहस्त्र मणियों को गगनमंडल में बिखेरती हैं। मेरे प्यारे प्रकाश, तेरे कारण पत्तेपत्ते पर अपरिमित आनन्दोल्लास फैल रहा

है, सुरसरिता ने अपनी कूलों को डुबा दिया है और आनंद की धारा उमड़ती चली आ रही है।"

"ऐ मेरे प्रियतम, मैं जानता हूं, कि यह स्वर्णमय आलोक जो पत्तियों पर नाच रहा है, यह आलसी बादल जो आकाश में इधरउधर फिरता है और प्रभात की मंद मंद वायु जो मेरे मस्तक को शीतल करती हुई बह रही है—यह सब तेरा प्रेम ही है। प्रातःकाल के प्रकाश ने मेरे नयनों को प्लावित कर दिया है—मेरे हृदय के लिये यही तेरा संदेशा है। ऊपर से तूने अपना मुख मेरी ओर झुकाया है। तेरे नेत्र मेरे नेत्रों पर लगे हैं और मेरे हृदय ने तेरे चरणों को छू लिया है।"

आहा! कितने दिव्य उद्गार हैं? इनमें वह प्रभाव भरा हुआ है, जो आत्मा को हिला देता है और आत्मज्योति के प्रकाश का दिग्दर्शन कराता है। ईश्वरी प्रकाश को देखकर कवि मानो आत्मा के अलौकिक आनंदसमुद्र में तैरने लगा है। इस प्रकाश को देखने से उसे जो दिव्य आनंद हुआ है, उसीको उसने इन उपर्युक्त पद्यों में गद्गद होकर दिखलाया है। ये कवि के स्वाभाविक उद्गार हैं। कविवर रवीन्द्र के पद्यों में स्थान स्थान पर इस प्रकार की दिव्य भावनाओं को देखकर कवि की आध्यात्मिक वृत्ति के विकास का पता लगता है। मालूम होता है, कि उन्हें जो इतनी सफलता प्राप्त हुई है, उसका कारण उनकी आत्मा का नैसर्गिक विकास ही है।

वह बाह्य सृष्टि से बढ़कर आत्म-सृष्टि में अधिक पाया जाता है और वे उस दिव्य सुख को वहीं देखते हैं। रवीन्द्र की सारी कविताओं में हमें इसी प्रकार के लोकोत्तर भाव मिलते हैं।

इस समय जब सारे संसार में जड़वाद ही की प्रधानता है, तब रवीन्द्रनाथ की कविताओं में आध्यात्मिकता का विशेष अंश क्यों है? यह शंका की जा सकती है, कि जब बाहरी तड़कभड़क ही पर दुनिया मोहित होती है, तब रवीन्द्रनाथ ने आत्मतत्त्व को क्यों और कैसे ढूंढा। इस प्रकार की शंका का होना स्वाभाविक है, परन्तु उसपर हमारा उत्तर केवल इतना ही है, कि उनके संस्कार ही ऐसे थे।

जिन लोगों ने प्रजा—जनन—शास्त्र का अध्ययन किया है वे जानते हैं, कि संस्कार एक बड़ी शक्ति है। संस्कारों का प्रभाव इस सृष्टि में अवतीर्ण होने के बाद तो पड़ता ही है, पर गर्भावस्था तक में भी पड़ता है। गर्भावस्था में मातापिता के द्वारा जैसे संस्कार डाले जाते हैं, वेही संस्कार पैदा होने वाले बच्चे पर अङ्कित हो जाते हैं। संस्कारों का बड़ा जबरदस्त प्रभाव पड़ता है। हमारे चरित्रनायक के संस्कार ही आध्यात्मिक थे। उनके पिता स्वनामधन्य महर्षि देवेन्द्रनाथ टागोर, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, बड़ी ही साधु आत्मा वाले पुरुष थे। उनका हृदय भक्तिमय था। उनकी दृष्टि आध्यात्मिक थी। इसके साथ ही उनका करुणाभाव, उनकी सेवावृत्ति, उनकी

समुज्वल देशभक्ति, उनकी एकान्तवास-रुचि, उनकी ध्यान-शक्ति, उनका मनुष्यस्वभावज्ञान और उनका कलाकौशल्यप्रेम सुप्रसिद्ध था। सुविख्यात अंग्रेज विद्वान एविलिन अंडर्हिल उनकी जीवनी की भूमिका में लिखते हैं:—

"महर्षि की प्रतिभा आध्यात्मिक थी। उनका हृदय आनंदमय था। गरीबों के प्रति उनमें बड़ी दया थी। विशेष वस्तुओं को निकट रखने से और सब असत्य पदार्थों से उन्हें घृणा थी। वे सान्त में अनंत के दर्शन करने का प्रयत्न करते थे। आत्मा का विकास करना ही उनका प्रधान लक्ष्य था।" महर्षि देवेन्द्रनाथ ने अपनी आत्मस्मृति में अपनी आध्यात्मिक वृत्ति का विवेचन किया है। एक जगह वे लिखते हैं:—

"अब मुझे अनुभव होने लगा मानो मैं अब मनुष्य नहीं रहा। मेरे हृदय में धन के प्रति एकाएक घृणा के भाव उठे। जिस चटाई पर मैं बैठा था, उसीको मैंने अपना उचित आसन समझा। गलीचे और कीमती बिछौनों से मुझे घृणा होने लगी। मेरे हृदय-केन्द्र में अलौकिक और अपूर्व आनंद होने लगा। इस समय मैं अठारह वर्ष का था।" आगे चल कर अपने पिछले जीवन का वर्णन करते हुए वे एक जगह लिखते हैं:—

"कांपते हुए हृदय से मैंने उस जंगल में ईश्वर के नेत्रों देखा। मेरे कठिन मार्ग में वे नेत्र मुझे रास्ता

बतलाने वाले थे। जब जब मैं कठिनाई में गिरता हूं, तब मैं उन नेत्रों को देखता हूं।" इन वाक्यों से महर्षि देवेन्द्रनाथ की आध्यात्मिक, भक्तिमय और अहंकार-हीन त्यागवृत्ति का पता सहज ही में चल सकता है। इतना ही नहीं, उनमें और भी अनेक सद्गुण थे। वे कलाकौशल के मर्मज्ञ थे। उनमें सौन्दर्य की परीक्षा करने की शक्ति थी। उनमें अनंत के संगीत सुनने की योग्यता थी। बात यह है, कि वे एक सुखी आत्मा और दिव्य पुरुष थे। उनका जीवन प्राकृतिक जीवन था और वे प्रकृति के बड़े प्रेमी थे। पिता के ये ही दिव्य संस्कार पुत्र में आ गये। हमने यहाँ महर्षि का यह परिचय इसलिये दिया है, कि जिससे पाठकों को यह मालूम हो जावे, कि रवीन्द्रनाथ के हृदय पर उनके धर्मात्मा पिता के संस्कार कैसे पड़े और रवीन्द्र की आत्मा में बहुतेरे बड़े बड़े गुण आने के लिये पिता के संस्कार कहाँ तक कारणीभूत हुए। रवीन्द्रनाथ की जीवनी के एक लेखक महाशय लिखते हैं, कि रवीन्द्र में जो दिव्य गुण और अलौकिक प्रतिभा है, वह उन्हें उनके पिता से दसौयत के रूप में मिली है। हमारे कहने का मतलब यह है, कि जड़वाद के समय में पैदा होकर भी रवीन्द्र ने अन्तर्जगत में रमण किया है और इसका एक प्रधान कारण यह भी है, कि उन्हें उनके पिता से ऐसे ही संस्कार प्राप्त हुए थे।

इसके सिवा और भी कुछ कारण थे, जिनसे रवीन्द्रनाथ

को कवित्वशक्ति का इतना विकास हुआ। हम पहिले लिख चुके हैं, कि चन्डीदास, विद्यापति, कबीर, नानक, तुलसीदास आदि प्राचीन कवियों की कविता को पढ़ते पढ़ते रवीन्द्र भक्ति-रस में डूब जाते थे। इन्हीं कवियों से रवीन्द्र को भक्तिपथ का मार्ग मिला। रवीन्द्र के महाकवि होने के कारण यद्यपि उनकी कविताएं बिलकुल स्वतंत्र हैं, तथापि उनमें प्राचीन वैष्णव कवियों की कविता का प्रभाव दीख पड़ता है। रवीन्द्र की जीवनी के लेखक अर्नेस्ट रीस महाशय लिखते हैं:—

"The influence upon Ravindranath's verse of the old Vaishnava poets has already been noticed." अर्थात् रवीन्द्र की कविताओं में पुराने वैष्णव कवियों का प्रभाव पाया जाता है। रवीन्द्रनाथ की कविताओं में जो भावुकता है, भक्तिरस है, मानवी कल्पनाओं का चित्र है और आत्मिक प्रकाश है, उसका बहुत सा अंश पुराने वैष्णव कवियों की कविताओं के प्रभाव का फल है।

इसके अतिरिक्त रवीन्द्र को प्राकृतिक सौन्दर्य देखने के भी अच्छे मौके मिले। यद्यपि इनमें स्वभाव ही से प्रकृति-प्रेम था, तथापि यदि ये आजन्म उस प्रकार मकान में कैदी की तरह रखे जाते, जैसे बचपन में कुछ वर्ष तक रखे गये थे, तो कदाचित इनकी कवित्वशक्ति तथा सौन्दर्य-परीक्षा-शक्ति का विकास न हुआ होता। रवीन्द्रनाथ अपने पिता के साथ

यात्रा के लिये गये थे। यात्रा में उन्होंने वेग से बहने वाली बड़ी बड़ी नदियां देखीं, सुमनोहर वृक्षों से भरे हुए घने वन देखे और पर्वतराज हिमालय की अपूर्व शोभा देखी। रवीन्द्र की प्रवृत्ति पर इन प्राकृतिक दृश्यों का भी असर हुआ। यह बात सच है, कि देखने वाले में सौन्दर्य-प्रेम न रहने पर उसे बाहर भी कोई पदार्थ सुन्दर दिखाई न देगा। बाहर के सौन्दर्य को देखने के लिये आत्मिक सौन्दर्य की आवश्यकता है। पर आन्तरिक सौन्दर्य-परीक्षा-शक्ति पर बाहरी सौन्दर्य का भी कुछ असर अवश्य होता है। यदि ऐसा न होता, तो प्रकृति-मनोहर स्थानों में कवियों को स्वाभाविक आनंद क्यों होता है ? वहाँ उनकी कवित्व-शक्ति अधिक क्यों खिलती है ? हमारी समझ में अन्तरिक सौन्दर्य-परीक्षा-शक्ति प्रधान है, पर बाहरी सौन्दर्य भी गौण रीति से प्रभावजनक होता है। दोनों का परस्पर सम्बन्ध है और दोनों एक दूसरे की सहायता पाकर विकसित होते हैं। अतएव यदि यह कहा जावे, कि प्रकृति के सुन्दर दृश्यों ने भी रवीन्द्र की कवित्वशक्ति के विकास में कुछ सहायता अवश्य पहुंचाई है, तो अनुचित न होगा।

हमारे कहने का मतलब यह है, कि महर्षि देवेन्द्रनाथ के उत्कृष्ट संस्कारों ने, विद्यापति, चन्डीदास आदि वैष्णव कवियों की भक्ति-रसमयी कविताओं ने तथा प्रकृति-देवी ने रवीन्द्र की आंतरिक शक्तियों को प्रकाशित किया—उनके ऊपर

लौट आये, जिनसे सारे देश में आपका चारों ओर नाम हो गया।"

रवीन्द्रनाथ के साहित्यिक जीवन का तीसरा विभाग उनकी तीस साल की उम्र में आरंभ होता है। इस समय आपका विवाह हुआ था। आपके पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्र-नाथ ठाकुर ने इस समय आपसे अपनी शिलेड़ा स्टेट की व्यवस्था करने को कहा था। यद्यपि यह बात हमारे चरित्र-नायक को रुचिकर न हुई, तथापि लाचारी से उन्हें देहात में रहने की यह आज्ञा स्वीकार करनी पड़ी। पर यहाँ रहने से उन्हें जो लाभ हुआ वह अवर्णनीय है। आपके जीवन के सर्वांगसुन्दर और सर्वोत्कृष्ट गुणों का यहाँ बहुत कुछ विकास हुआ। आपको यहाँ कृषकों के जीवन का परिचय हुआ और मानवी अन्तःकरण के सुखदुःख, अभिलाषा और विकारों के विश्वव्यापी तत्वों का ज्ञान हुआ। एक सुविख्यात बंगाली डाक्टर का कथन है —

"पचीस वर्ष की अवस्था से पैंतीस वर्ष की अवस्था तक, जब कि वे शोकसन्तप्त थे, उन्होंने हमारी भाषा में ऐसा उत्कृष्ट प्रेम-काव्य लिखा कि जिसकी महिमा शब्दों के द्वारा नहीं बतलाई जा सकती। इस अवस्था के बाद उनकी कवित्व-शक्ति का विकास हुआ और वे धर्म तथा तत्वज्ञान पर काव्य रचने लगे। उनके इस समय के काव्यों में मानवी

महत्त्वाकांक्षाओं का बड़ा ही सुन्दर चित्र है। हम लोगों में रवीन्द्रनाथ ही पहिले महात्मा हैं, जिन्होंने संसार में रहते हुए भी उस अनन्त में अपनी तान मिला दी। इसीलिये हम कविवर का विशेष आदर करते हैं।" रवीन्द्रनाथ ने अपने देहाती जीवन में देहातियों के जीवन का अच्छा अध्ययन कर लिया। उन्होंने उनकी आत्मा को, उनकी सरल प्रकृति को, उनके सुखदुःखों को और उनके मनोभावों को–पहिचान लिया और इनके संबंध की कई बोधप्रद कहानियाँ लिख डालीं। मि० एन्ड्रूज ने अपने व्याख्यान में कहा था:—

"स्वदेश की प्रतिभा पर और उसके प्रकाशमय भूत तथा भविष्य पर जो अविचल विश्वास है, उसे उन दृश्यों से अत्यन्त अधिक पुष्टि मिली है, जिन्हें कविवर ने बंगाल के देहातों में देखा है। रवीन्द्रनाथ बंगाल के देहातियों के हृदय की प्रशंसा भरपूर उत्साह के साथ करते हैं और कहते हैं कि सहनशीलता, सरलता और मानवी सहानुभूति के अत्यन्त उज्ज्वल गुण उन्होंने इन देहातियों से सीखे हैं।"

"देहातों में रहने से तथा देहातियों के निष्कपट, प्रकृत और सादे जीवन को देखने से रवीन्द्रनाथ के हृदय पर बड़ा ही प्रभाव पड़ा। उन्हें वहाँ अपने जीवन में बड़ा प्रकाशमय परिवर्तन दिखाई पड़ा। उनके हृदय में अपने प्रिय देश की सेवा के लिये महत्त्वाकांक्षाएँ उठने लगीं।

उनके हृदय में सम्पूर्ण रूप से प्रकृतिप्रेम का साम्राज्य छा गया । आप देशसेवा का कोई क्रियात्मक काम करने के लिये बड़े उत्सुक हुए । पाठशाला स्थापित करने के लिये वे कलकत्ते गये । रवीन्द्र का स्कूली जीवन, जैसा उन्होंने मुझसे कहा था, असुखकर था । इससे किसी नये नमूने पर वे एक ऐसी आदर्श संस्था खोलना चाहते थे जिससे देश के नवयुवकों का प्रकृति से घनिष्ठ सम्बन्ध हो जावे और उनके अंतःकरण में सर्वोत्कृष्ट दिव्य आदर्शों की स्फूर्ति हो । इसी उच्च और पवित्र उद्देश को सामने रखकर उन्होंने बोलपुर के सुमनोहर प्राकृतिक सौन्दर्य-वाले स्थान में "शान्तिनिकेतन" नाम का एक विद्यालय स्थापित किया । इस विद्यालय के आसपास का वातावरण कितना दिव्य और पवित्र है, इसके आदर्श क्या हैं और इसकी शिक्षापद्धति कैसी है इन सब बातों का वर्णन आगे चलकर हम किसी अध्याय में करेंगे । विद्यालय के संबंध में यहाँ केवल इतना ही लिख देना बस है कि इसे स्थापित करते समय रवीन्द्रनाथ को बड़ी भारी आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा था।"

रवीन्द्रनाथ ने मि० एन्डूज़ से कहा थाः—

"विद्यालय को चलाने के लिये मैंने अपने ग्रन्थ बेचकर ग्रन्थों का कापीराइट बेचा । मैं आपको बतला नहीं सकता कि मुझे कितनी हैरानी और कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं ;

प्रारंभ में इससे मेरा उद्देश केवल स्वदेशसेवा का था, पर पीछे वह आध्यात्मिक हो गया। इस कार्य में मेरे सामहने जो बाहरी अड़चनें आई उनसे मेरे जीवन में आंतरिक परिवर्तन होगया।"

महापुरुषों पर अनेक दुःख और अनेक विपत्तियाँ आया करती है। ये उन्हें उनके उद्देश से न्युन करने की चेष्टाएँ करती है। ये उनकी आत्मा की अग्नि-परीक्षा करती हैं। पर सच्चे महापुरुष लाख विपत्तियों के आ पड़ने पर भी अपने उद्देश से भ्रष्ट नही होते। उनकी आत्मा और भी अधिक विशुद्ध हो जाती है। इन विपत्तियों से उनका मैल छट जाता है। रवीन्द्र पर भी इस प्रकार की कई दारुण आपत्तियाँ आई। उनकी प्रिय पत्नी का देहान्त हो गया। इसके कुछ दिन बाद ही उनकी लाड़ली कन्या क्षयरोग से स्वर्ग सिधार गई। इसके बाद उनका सबसे छोटा पुत्र हैजे से देवलोक को गया! इस प्रकार उन पर संसार की दृष्टि से एक पर एक असह्य विपत्तियाँ आईं, पर जिन्हें आत्मज्ञान हो गया है, जिनका यह विश्वास है कि आत्मा अमर है—वह मर नहीं सकती और जो यह मानते है कि मृत्यु शरीर का परिवर्तन मात्र है—उन्हें अपने प्रिय जनों की मृत्यु का दुःख नही होता। उनकी आत्मा सुख मे और दुःख मे आनंदसागर ही में तैरा करती है। रवीन्द्र ने अपने पर आये हुए इन दुःखों के विषय मे कहा था:—

"ये मृत्युएँ मेरे लिये बड़ी मुबारक थीं। मुझमें पूर्णता का भाव था। मुझे मालूम हुआ मानों मैंने कुछ भी नहीं गुमाया है। मुझे मालूम हो गया था कि यदि परमाणु बाह्य दृष्टि में नष्ट होता हुआ भी दिख पड़े तो भी वह नष्ट नहीं होता। मुझे जीवन की पूर्णता पर पूरा विश्वास है। मैं नहीं जानता कि मृत्यु क्या वस्तु है? आत्मा पूर्ण है। मेरा कुछ नहीं गुमा।"

इन्हीं दिनों में कविवर ने बँगला में गीताञ्जलि नामक अमर काव्य की सृष्टि की थी, जिससे सारा ज्ञान-मय संसार आलोकित हो उठा। इसके बाद जब वे विलायत गये, तब उन्होंने अपने काव्य—गीताञ्जलि, गार्डनर, शशि आदि—के अंग्रेजी अनुवाद किये। जब ये अनुवाद प्रकाशित हुए, तब यूरोप के काव्यसंसार में एक प्रकार का अलौकिक प्रकाश छा गया। जिन पाश्चात्य विद्वानों ने इन्हें पढ़ा उनके अंतःकरण हिल गये। उनकी आत्माएँ परमानंद में गद्गद् हो गईं। इन अनुवादों के लिये कविवर कहते हैं कि—"मैंने इन्हें सब अलंकारों से विहीन कर बहुत ही सादी पोशाक पहिना दी है।" मि० एन्ड्रूज कहते हैं कि यही सादी पोशाक इतनी सुन्दर और आकर्षक बन गई कि इसने यूरोप को हिलाकर उसके साहित्यसंसार में अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न कर दी और अंग्रेजी साहित्य के गौरव में अद्वितीय वृद्धि कर दी। इस कल्पनातर

गद्य से पाश्चिमात्य संसार के अन्तःकरण पर जो आध्यात्मिक प्रभाव पड़ा, उसका वर्णन करना कठिन है। इस दिव्य और अलौकिक गद्य-काव्य, गीताञ्जलि को पढ़कर यूरोप के कितने ही सर्वोपरि कीर्तिशाली विद्वानों ने कहा था कि इस दिव्य काव्य के आश्रय से यूरोप के साहित्यसंसार में एक नया युग आरंभ होगया है। मि० इट्स ने "गीताञ्जलि" की भूमिका में लिखा है.—"मैं कविवर रवीन्द्रनाथ के काव्यों के अनुवादों को अपने साथ ले गया था। मैं रेलगाड़ी में यात्रा करते करते इन्हें पढ़ता था। मेरा अंतःकरण इनसे इस प्रकार हिल जाता था कि मुझे इन पुस्तकों को बन्द कर देना पड़ता था। ये काव्य सर्वोपरि प्रतिभा और सर्वोत्कृष्ट संस्कृति के द्योतक हैं।" अनेक प्रसिद्ध अंग्रेजीसाहित्यविशारदों ने रवीन्द्र को उनकी अलौकिक काव्य-प्रतिभा के लिये अभिनन्दन-पत्र देते हुए कहा था:—

"आपने अपनी प्रतिभा को, जो ईश्वर की देन है, अत्यन्त पवित्र उद्देशों के लिये समर्पित किया है। आपने हृदय को सुख पहुँचाया है, मन में अत्यन्त पवित्र भावों का सञ्चार किया है, कर्णों को संगीत का आनंद दिया है, आँखों के साम्हने सौन्दर्य का चित्र खींचा है और आत्मा को उसके स्वर्गीय मूल का स्मरण दिलाया है।"

सारांश यह है कि इनके काव्यों की कीर्ति चहुँ ओर फैल

गई। यूरोप में उनका बड़ा आदर होने लगा। बड़े बड़े विद्वान उन्हें पढ़कर आत्मिक आनंद प्राप्त करते हुए भारतीय प्रतिभा की प्रशंसा करने लगे। इतना ही नहीं बल्कि जिस वर्ष आपके काव्य प्रकाशित किये गये थे उस वर्ष वे साहित्यसंसार में अद्वितीय समझे गये और आपको सवा लाख रुपयों का नोबल पुरस्कार मिला। जो प्रतिभाशाली महानुभाव साहित्य, काव्य, विज्ञान आदि में अपनी अपूर्वता का परिचय देते हैं, उन्हें ही यह पुरस्कार मिलता है। इस पुरस्कार के प्राप्त होने से रवीन्द्रनाथ की कीर्ति सारे संसार में फैल गई। सारे संसार की दृष्टि उनके अलौकिक काव्यों की ओर आकर्षित हो गई। स्विट्ज़र्लैण्ड की राजधानी स्टॉकहोम से "लंडन टाइम्स" के संवाददाता ने १४ नवंबर सन् १९१३ को लिखा था:—

"कार्फेल्ट (Karfelt) और हीडेन्स्टन (Heidenstein) नामक स्विट्ज़र्लैण्ड के विख्यात कवियों ने (जो कि पुरस्कार देनेवाली विलायती विद्यासंस्था (academy) के मेम्बर हैं) इस पुरस्कार से अत्यन्त संतोष प्रगट किया है और उन्होंने रवीन्द्र के काव्यों को संसार में एक मौलिक और अपूर्व आविष्कार की उपमा दी है।" भारत ने भी अपने प्रतिभाशाली पुत्र के इस अपूर्व सम्मान का समाचार हार्दिक आनंद से सुना। समाचारपत्रों के कालमों में रवीन्द्र-

नाम की प्रशंसा प्रकाशित होने लगी। भारतीय जनता की दृष्टि भी अब इस कविसम्राट की ओर लगी। लोग इनके काव्यों को पढ़ने के लिये बड़ी उत्सुकता प्रगट करने लगे। कविसम्राट रवीन्द्रनाथ की कृतियों को पढ़ने के लिये ही खासकर अनेक मनुष्यों ने बंगला भाषा का अध्ययन किया। बहुतेरे लोगों ने गीतांजलि आदि अलौकिक काव्यों को अंग्रेजी में पढ़कर आनन्दलाभ किया। बात यह है कि भारत में भी आपकी विशेष ख्याति इसी समय से हुई। यह एक बड़े दुःख की बात है कि कई बार भारत ने अपने प्रतिभाशाली पुत्रों का समुचित आदर उस समय किया है जब पाश्चिमात्य संसार में उनकी प्रतिभाशक्ति की प्रशंसा हो चुकी। स्वामी विवेकानन्द को भारतवासी तब ही विशेष रूप से जानने लगे थे जब उनकी सुकीर्ति अमेरिका में छा गई और उनकी प्रतिभा से वहाँ के लोग मोहित हो चुके। कविवर रवीन्द्रनाथ की अपूर्व प्रतिभा का प्रकाश पहिले पाश्चिमात्य लोगों ने देखा और फिर भारतवासियों ने। क्या यह खेद और लज्जा की बात नहीं है कि घर में चिराग होते हुए भी हम अंधकार का अनुभव करें और हमें होश तब आवे जब हमें कोई दूसरा मनुष्य यह बतलावे कि हमारे घर में चिराग जल रहा है? क्या यह दशा देश को गढ़े में ढकेलनेवाली नहीं है? हमारे देश में जो छिपे हुए रत्न पड़े हुए हैं, उन्हें ढूँढ़कर निकालना और देशोद्धार
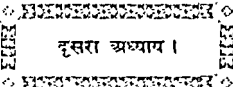
के कार्य में तथा मानवी आत्मा की उन्नति में उनसे लाभ प्राप्त कर लेना हमारा कर्तव्य है। हमारे देश में जो प्रतिभा है—जो गुप्त सम्पत्ति है—उसका पता लगाकर उसके सहारे देश को आगे बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिये। इसीसे देश को जीवनशक्ति मिलेगी और अनेक योग्य व्यक्तियों की प्रतिभाशक्ति की जागृति होगी।

कविसम्राट रवीन्द्रनाथ के आध्यात्मिक जीवन का हाल हम पहिले बतला चुके हैं। हम यह लिख चुके हैं कि उनके चरित्रगठन में उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ के संस्कारों का अद्भुत प्रभाव पड़ा। पिता के साधु संस्कारों के कारण तथा रवीन्द्रनाथ की स्वाभाविक आध्यात्मिक वृत्ति के कारण रवीन्द्रनाथ में जड़ पदार्थों के लिये मोह नहीं रहा। वे अपने उदार हृदय में मनुष्यजाति को स्थान है और मनुष्यजाति के एक अंश भारतीय लोगों के विकास के लिये विशेष रूप से लगे रहते हैं। उनके मतानुसार भारत का प्राचीन आदर्श दिव्य है और पाश्चिमात्य आदर्श का अनुकरण कर भारत लाभ नहीं उठा सकता। क्योंकि दोनों के आदर्शों में आकाशपाताल का अन्तर है। भारत का आदर्श आत्मा है-अन्तर्जगत है और पाश्चिमात्य देशों का आदर्श जड़ द्रव्य है—बाहरी ठाटबाट है।

रवीन्द्रनाथ आत्मिक आदर्श के प्रेमी हैं। उन्हें द्रव्य का मोह नहीं—ज्ञान का मोह है, इससे उन्होंने अपने बोलपुर के

मान मनुष्यता है। मुझे यह जानकर बड़ा आनंद हो रहा है कि मैं आज एक ऐसे कवि का सम्मान कर रहा हूँ, जिसकी सहानुभूति अंतरंग और विशाल है, जिसकी कविता प्रकृति की पोषक और आत्मिक भावों से परिपूर्ण है। कविवर की दृष्टि, भावना, प्रेम और सहानुभूति अद्वितीय है। उनकी प्रतिभा का मूल आध्यात्मिक है।" इसी व्याख्यान में श्रीमान ने रवीन्द्र को एशिया के कविसम्राट कहकर सम्मानित किया था। इस तरह भारत में और पाश्चिमात्य संसार में हमारे चरित्रनायक का बड़ा आदर हुआ और उनकी कविता संसार को अपूर्व प्रकाश देनेवाली समझी गई।

दूसरा अध्याय।

कविसम्राट रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व।

पहिले अध्याय को पढ़ने में पाठकों को मालूम हुआ होगा कि कविसम्राट रवीन्द्रनाथ की आत्मा कितनी दिव्य है और उसका कितना उच्च विकास हो चुका है। उनका जीवन महान उदार है और विश्वव्यापी प्रेम, मानवी सहानुभूति, भूतदया, आत्मत्याग आदि अनेक दिव्य गुणों तथा लोकोत्तर भावनाओं से परिपूर्ण है। उनके हृदय का प्रकाश जाज्वल्यमान है, और इस प्रकाश का प्रभाव उनके मुखमण्डल पर भी दिखलाई देता है। अंग्रेज़ी में एक उक्ति है कि Face is the index of the heart अर्थात् चेहरा हृदय का प्रतिबिम्ब है। यह उक्ति बिलकुल ठीक है और इसकी सत्यता हमारे चरित्रनायक की मुखश्री को देखने पर विदित हो जाती है। मनुष्य की बाहरी चेष्टाओं से बुद्धिमान मनुष्य को उसके अन्तर्जगत का ज्ञान हो जाता है। आत्मिक भावनाओं का और हृदय के विचारों का असर चेहरे पर दिखने लगता है। जिसकी आत्मा दिव्य है अर्थात् जिसकी आत्मा का आवरण

हट गया है, जिसके विचार विशुद्ध हैं और जिसकी भावनाएँ पवित्र हैं उसके चेहरे पर भी दिव्यता, विशुद्धता और पवित्रता की झलक दिखलाई देगी। उस तेजस्वी मनुष्य का चेहरा ऐसा मालूम होगा मानों वह दूसरे लोगों पर अपनी मानसिक किरणों के द्वारा दिव्य प्रकाश डाल रहा हो। रवीन्द्रनाथ की भव्य तथा शान्त मुखमुद्रा और उनकी दिव्य दृष्टि हृदय पर आश्चर्यकारक प्रभाव डालती है। उनके शान्तिमय और तेजस्वी मुखमण्डल को देखने से बुद्धिमान सज्जनों को उनकी अंतरंग दिव्यता का भान होने लगता है। महापुरुषों के पास जाने से अन्त:करण पर एक प्रकार का अदृश्य प्रभाव पड़ता है और वह प्रभाव हृदय को अलौकिक सुख पहुँचाता है। उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली हो जाता है। कविसम्राट रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व भी बड़ा प्रभावशाली है। उनके दर्शन से हृदय पर अद्भुत प्रभाव पड़ता है और सहृदय मनुष्य के अन्त:करण में उन दिव्य गुणों का प्रचार होने लगता है जो रवीन्द्रनाथ के जीवन के मूल हैं। जब कविसम्राट किसी लोकसमुदाय में जाते हैं, तब लोगों पर उनके व्यक्तित्व की प्रबल छाया पड़ती है। यह बहुतेरे लोगों का अनुभव है कि रवीन्द्रनाथ के आत्मिक गुणों का प्रकाश उनके मुखमण्डल पर भी दिखलाई देता है।

उनका स्वभाव बड़ा मधुर है। उनके स्वभाव में निःस्वार्थ मधुरता का भाव दिखलाई पड़ता है। उसमें धार्मिकता की

अधिकता पाई जाती है। यही कारण है कि हृदय को दहला देनेवाले बड़े बड़े कौटुम्बिक दुःखों को भी आप आनन्द में परिवर्तित कर लेते हैं। इन दुःखों से दुःखी होने के बदले आपका हृदय अखिल मानवजाति के लिये प्रेम और सहानुभूति से भर जाता है। जब आप पर कोई विकट शारीरिक कष्ट आ पड़ता है तब आप उसे भी बड़ी शान्ति के साथ सह लेते हैं। आपका हृदय सहृदयता और मानवी सद्गुणों का केन्द्र है। प्रकृति के तो आप पूरे प्रेमी हैं। हम तो यह कहेंगे कि आपका जीवन ही प्रकृति-मय है। प्रकृति आपके लिये प्रेममयी माता है, जो अपने खिले हुए सौन्दर्य से इनके ज्ञान-चक्षुओं को प्रसन्न करती है; जो अपनी सहानुभूति और प्रेम के सुकोमल हृदय से उनके हृदय में आनंद का स्रोत बहाती है और जो उसे विश्वके समान व्यापक बनाने में पूर्ण सहायता पहुँचाती है। प्रकृति आपके जीवन का विशेष आनंद है। आपको प्रकृति के क्रीड़ास्थान में एकान्तवास करना बड़ा रुचिकर मालूम होता है। आप विशुद्ध भाव से भक्तिमय होकर अपने हृदयप्रदेश में प्रवेश कर अलौकिक आनंद का अनुभव करते हैं। आप आजकल प्रायः शान्तिनिकेतन में रहते हैं। आप हमेशा पिछली रात को तीन बजे उठते हैं और अपने प्यारे अनन्त तत्व का ध्यान करने के लिये अविचल रूप से बैठ जाते हैं। इस समय ऐसा मालूम होता है मानों आपके हृदय-केन्द्र का तार उस अनंत से लग गया है और आप उस

अनन्त ज्योति में तल्लीन हो रहे हैं। इस समय आप दो घण्टे तक उस अनन्त ज्योति में लीन रहते हैं। बहुत से लोगों का कथन है कि रवीन्द्रनाथ में जो इतनी अलौकिक कवित्वशक्ति का प्रकाश हुआ है उसका कारण उनका प्रकृति के विशुद्ध सौंदर्य में रमण करना तथा अनन्त प्रदेश में लीन हो जाना है। संसार की धूमधाम और शहर का अशान्तिमय जीवन कवित्व-शक्ति के विकास में बाधा पहुँचाते हैं। प्राकृतिक सौंदर्य को देखते हुए आत्मिक प्रकाश में मग्न हो जाने ही से स्वाभाविक कवित्वशक्ति का स्रोत बहने लगता है। इस स्रोत से कविता के रूप में जो भाव निकलते हैं, वे बड़े ही दिव्य और लोकोत्तर होते हैं। रवीन्द्रबाबू की कविता इन्हीं आत्मिक भावों का संग्रह है। हृदय से निकली हुई होने से इसमें हृदय का प्रकाश दीख पड़ता है। सौन्दर्ययुक्त भावनाओं से प्रेरित होने के कारण इनमें विशुद्ध सौन्दर्य का अलौकिक प्रासाद और एक प्रकार की दिव्य आत्मिक प्रभा दीख पड़ती है। जब प्रकृति अपनी अलौकिक छटा धारण करती है; जब सघन जंगलों में चारों ओर हरियाली ही हरियाली दीख पड़ती है, जब मन्द पवन चलता रहता है, जब चारों ओर नैसर्गिक सौन्दर्य की कान्तिमय प्रभा दीख पड़ती है, तब रवीन्द्रनाथ किसी प्राकृतिक एकान्तवास में जाकर प्रकृति से अपनी आत्मा की एक-रूपता कर लेते हैं और इस एक-रूपता के अलौकिक आनन्द का अनुभव करते समय आपके हृदयरन्ध्र से जो स्वाभाविक

उद्गार निकलते हैं, वे ही आपकी प्रकृत कविताएँ होती हैं—वे ही कविताएँ अलौकिक भावनाओं से युक्त होती हैं। उन्हीं कविताओं में मानवी जीवन का सर्वोच्च आदर्श और मानवी महत्वाकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब रहता है।

रवीन्द्रनाथ जैसे प्रतिभाशाली कवि हैं, वैसे ही आप सच्चे देशभक्त हैं। आपका हृदय स्वदेशभक्ति के भावों से लबालब भरा हुआ है। आपकी एक अनुपम कविता है जिसका आशय यह है:—

"धन्य है मेरा जीवन कि मैंने इस देश में जन्म लिया है। माता! धन्य है मेरा जीवन कि मैंने तुझसे प्रेम किया है। मैं नहीं जानता कि तेरे पास एक सम्राज्ञी की सम्पत्ति है या नहीं। मैं तो यह जानता हूँ कि जब जब मैं तेरी छाया में खड़ा रहता हूँ तब तब मेरी नसनस में शान्ति छा जाती है। मैं नहीं जानता कि ये फूल कहाँ खिल रहे हैं जिनकी सुगन्ध से मेरी आत्मा पागल हो रही है। मैं नहीं जानता कि वह आकाश कहाँ है, जिसमें मधुर हास्य करनेवाला चन्द्रमा उदय होता है। माता! पहिलेपहल मेरे नेत्र तेरे प्रकाश में खुले और अन्त में वे उसी प्रकाश में बन्द हो जावेंगे।"

एक दूसरी जगह रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि:—

"मैं चाहता हूँ कि मेरा जन्म बारबार इसी भारतवर्ष में हो। यहाँ दुःख और विपत्ति होने पर भी मैं भारत को सबसे अधिक प्यार करता हूँ।"

तीसरा अध्याय।

भारत को रवीन्द्रनाथ का सन्देश।

कविसम्राट रवीन्द्र ने अपने काव्यों और लेखों में भारत को जो सन्देश सुनाया है, वह बड़ा ही उच्च, पवित्र और दिव्य है। उन्होंने अपने सन्देश में भारतवर्ष के प्राचीन आदर्शों का मनोहर चित्र खींचा है। उन्होंने भारत की आकांक्षाओं का ऐसा सच्चा वर्णन किया है, जिससे चित्त मुग्ध हो जाता है। इसमें उन्होंने भारतीय जीवन के सुख और दुःख, आशा और निराशा, संशय और विश्वासों का प्रतिबिम्ब दिखलाया है। उन्होंने अपने सन्देश में उन संशयों को हटाने की कोशिश की है जो भारत के प्रकाशमय विश्वास को अन्धकारमय बनाये हुए हैं। उन्होंने दिखलाया है कि पश्चिम का अनुकरण कर भारत अपनी भलाई नहीं कर सकता। पश्चिमी सभ्यता जड़ सभ्यता है—उसमें आत्मतत्व का समावेश नहीं किया गया है। इसीसे पाश्चिमात्य सभ्यता में आध्यात्मिक भाव नहीं है। वह बाहरी उन्नति ही को सब कुछ समझती है। उसमें स्वार्थी तत्व है और गत

ने प्रकाशित किया है। उन्होंने भारतीय आत्माओं को भारत का प्राचीन आध्यात्मिक संदेश सुनाया है। रवीन्द्र के हृदय में भारतवर्ष समाया हुआ है। उन्होंने भारत की आत्मा को पहिचान लिया है। भारत के मन में जो आकांक्षाएँ और भावनाएँ उठती हैं, उनका प्रतिबिम्ब उन्होंने ठीकठीक दिखलाया है। उन्होंने भारतवासियों को यह दिव्य सन्देश सुनाया है कि "भाइयो! जड़वाद के पीछे पड़कर जड़ मत बनो, अपनी आत्मा को पहिचानो और उस अनन्त परब्रह्म में उसे मिला दो।" बात यह है कि रवीन्द्रनाथ ने जड़प्रधान युग में आत्मा के अलौकिक प्रकाश को दिखलाया है और इस तरह अंधेरे में ठोकरें खाती हुई मनुष्यजाति को उस अनन्त में तन्मय हो जाने का मार्ग बतलाया है। उन्होंने धर्म का सन्देश सुनाया है, आत्मिक सौन्दर्य की छटा दिखलाई है और सामाजिक उत्थान के मार्ग पर प्रकाश डाला है। डाक्टर सदरलैंड (Dr. Sutherland) ने "क्रिश्चियन रजिस्टर" में कहा था कि "संसार के किसी देश ने धर्म और जीवन के सब विषयों पर गहन विचार करनेवाले उतने तत्वज्ञानी उत्पन्न नहीं किये, जितने प्राचीन भारतवर्ष ने किये थे। आधुनिक भारतवर्ष में टागोर सदृश बुद्धिमान, दयावान, उदारहृदय और महान गुरु दूसरा कोई नहीं है। वे हमसे ज्ञान प्राप्त करने में अत्यन्त उत्सुक रहते

हैं तथा अपने ऐतिहासिक राष्ट्र का सर्वोत्कृष्ट ज्ञान देने में भी वे सबसे अधिक योग्य हैं।"

रवीन्द्रनाथ का मत है कि भारत की वास्तविक उन्नति विशुद्ध धर्म के आश्रय ही से हो सकती है। भारत की उन्नति उसकी आध्यात्मिक उन्नति पर निर्भर है। रवीन्द्र का धर्म संकीर्ण नहीं है; वह बड़ा उदार है। उसमें सारा विश्व समाया हुआ है। उस धर्म में मतमतांतरों के झगड़े नहीं हैं। उसमें अंध-विश्वास नहीं हैं। वह केवल बौद्धिक वाद पर निर्भर नहीं रहता है। उस विश्वव्यापी धर्म में आत्मा का सन्देश है; उसमें केवल उस परमात्मा की पूजा का विधान है, जिसकी ज्योति सर्वत्र व्याप्त है। उसमें बौद्धिक वाद की जगह स्वाभाविक आन्तरिक प्रेरणा की प्रधानता है। वह धर्म विश्व के सब धर्मों को अपने अन्तर्गत समझता है और मानता है कि भिन्नभिन्न धर्मों में दिखनेवाली भिन्नता बाहरी है। सब धर्मों की आत्मा एक है। रवीन्द्रनाथ की दृष्टि विशाल है और इसीलिये उनका मत है कि हमारे आदर्शों को हमारे जीवन के सर्वांग में व्यावहारिक रूप से प्रतिबिम्बित होना चाहिये। हमारे हरएक कार्य में आत्मा का प्रतिबिम्ब दिखना चाहिये और हमें सर्वत्र परमात्मा की ज्योति का अनुभव करना चाहिये। रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि धर्म के ऊपरी ढोंग को छोड़ो, धर्म की आत्मा में तल्लीन हो जाओ। जो मनुष्य

त्मिक एकता का अनुभव करते हैं, वेही सुख पा सकते हैं। ही मनुष्य सुख पा सकते हैं, जो अपने अंतर्गत ईश्वरी त्व का विकास करते हैं। इस मार्ग पर पहुँचने के लिये रम्परागत मार्गों के अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं। ाकि वे मार्ग अनंत हैं। रवीन्द्रनाथ हमें ऐसा विशुद्ध धर्म तलाते हैं, जो सब काल और सब देशों में एकसा है। स धर्म में विशुद्ध मानव आत्मा स्थान पा सकती है। रवीन्द्र र धर्ममार्ग में मनुष्यकृत नियमों से किसी प्रकार की ाधा नहीं पड़ती। वह स्वतंत्र तथा विशुद्ध है और उसकी कलक अन्य सब धर्मों में पाई जाती है। सब प्रकार की आत्माएँ उससे उत्कृष्ट श्रेणी का संतोष प्राप्त कर सकती हैं। रवीन्द्र का धर्म विविधता में एकता देखता है और वह एक अदृश्य ईश्वर की पूजा करता है। रवीन्द्र यह आशा करते हैं कि भारतवर्ष में संसार के जो धर्म प्रचलित हैं, उनका आपसी द्वेष मिट जावेगा और उनका आपस में मेल हो जावेगा। हिन्दू, ईसाई, मुसलमान आपस में लड़ना झगड़ना छोड़ देंगे; वे सब एकता प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे। यह एकता विशुद्ध हिन्दूभाव की होगी। उसका बाहरी दृश्य कैसा ही हो, पर उसकी आत्मा हिन्दू होगी।

रवीन्द्रनाथ भारत का पुनर्संगठन करना चाहते हैं। वे इस पुनर्संगठन के कार्य को आर्थिक नींव पर नहीं, मतमतांतरों पर

नहीं, बल्कि विश्वव्यापी प्रेम की आध्यात्मिक दृष्टि पर करना चाहते हैं। वे अच्छी तरह से मानते हैं कि भारतवर्ष का प्रकाशमय भविष्य उसके विशुद्ध प्रेम-मय आत्मिक धर्म पर निर्भर है। उनका विश्वास है कि पाखण्ड और अन्धविश्वास से विहीन विशुद्ध हिन्दूधर्म पाश्चिमात्य सभ्यता और संस्कृति के आक्रमणों का मुकाबला कर सकता है। रवीन्द्रनाथ धर्म की विशुद्धता चाहते हैं—धर्म के बाह्य आडम्बरों से उन्हें बड़ी तीव्र घृणा है। रवीन्द्र का धर्म डंके की चोट कहता है कि हृदय शुद्ध होना चाहिये और हृदय में विश्वसेवा के उदार भाव होने चाहिये। रवीन्द्र के मतानुसार उपर्युक्त दिव्य गुण ही आत्मा के गौरव हैं। परम ज्योतिमय ईश्वर के स्पर्श ही को वे जीवन का सब से बड़ा सुख समझते हैं। गीताञ्जलि में आपने कैसा ही उत्तम भाव प्रगट किये हैं—

"हे जीवनप्राण, यह अनुभव करके कि मेरे सब अंगों में आपका सचेतन स्पर्श हो रहा है, मैं अपने शरीर को सदैव पवित्र रखने का यत्न करूंगा।

"हे परम प्रकाश, यह अनुभव करके कि आपने मेरे हृदय बुद्धि का दीपक जलाया है, मैं अपने विचारों को समस्त असत्यों से दूर रखने का सदैव यत्न करूँगा।

"यह विचार कर कि इस हृदयमंदिर के भीतर आप विराजमान हैं, मैं अपने सब दुर्गुणों को अपने हृदयमंदिर से

निकालने का और (आपके) प्रेम को प्रस्फुटित करने का सदैव यत्न करूँगा।

"यह अनुभव करके कि तेरी ही शक्ति मुझे काम करने का बल देती है, मैं अपने सब कामों में तुझे व्यक्त करने का प्रयत्न करूँगा।"

कितने दिव्य विचार हैं! इन वाक्यों में उस दिव्य चैतन्य के सञ्चार का कितना उग्र अनुभव दिखलाया गया है! अपने हृदय में उस परमात्मा की पवित्र ज्योति को व्याप्त रखने के लिये कवि ने कितनी पवित्र तयारी की है! परम ज्योति परमात्मा के निकट संबंध से आत्मा, शरीर और मन को पवित्र बनाने का कितना दिव्य सन्देश है!

ऊपर के वाक्यों से मालूम हो सकेगा कि परम पिता परमात्मा की प्राप्ति के लिये—उस अनंत ज्योतिमय ईश्वर के दर्शन के लिये—स्वाभाविक कवि अपने आपको भूलकर हृदय के कितने दिव्य उद्गार निकालते हैं। कवि का आदर्श उसी अनन्त ज्योति की प्राप्ति है। कवि उसी अनंत प्रकाश के प्रवाह की बाट जोह रहा है। वह भक्ति के परम पवित्र प्रवाह में लीन होकर उस ज्योतिमय और करुणासागर परमात्मा का कितनी उत्कृष्ट रीति से आह्वान करता है उसे भी देख लीजिये—

"हे मेरे प्रियतम ! तू अपने आपको छाया में छिपाये हुए सब के पीछे कहाँ खड़ा है ? लोग तुझे कुछ नहीं समझते और धूल से भरी सड़क पर तुझे दबाकर तेरे पास से निकल जाते हैं। मैं पूजा की सामग्री सजाकर घंटों तक तेरी बाट जोहती हूँ। पथिक आते हैं और फूलों को एक-एक करके ले जाते हैं। मेरी डालियाँ प्रायः समाप्त हो चुकी हैं।

"प्रातःकाल बीत गया और दोपहरी भी निकल गई। सन्ध्या के अन्धेरे में मेरी आँखों को नींद सता रही है। निज गृहों को जानेवाले मेरी ओर देखते हैं, मुस्कुराते हैं तथा मुझे लज्जित करते हैं। मैं एक भिखारिनी लड़की की भाँति अपने मुख पर अंचल डालकर बैठी हूँ और जब वे मुझसे पूछते हैं कि "तू क्या चाहती है", तब मैं अपनी आँखें नीची कर लेती हूँ और उन्हें उत्तर नहीं देती।

"हाय, मैं उनसे कैसे कहूँ कि मैं उनका रास्ता देख रही हूँ और उन्होंने आने का वचन दिया है। लाज के मारे मैं कैसे कहूँ कि भेंट के लिये मैंने यह दरिद्रता ही रखी है।

"अहो, मैंने इस अभिमान को अपने हृदय में छिपा ... मैं घास पर बैठी हुई आशा भरे नयनों से आकाश ... हूँ और तेरे अचानक आगमन के वैभव का

स्वप्न देखती हूँ। स्वप्न में सब दीपक जल रहे हैं, तेरे रथ पर सुनहरी ध्वजाएँ फहरा रही हैं और लोग मार्ग में यह देखकर अवाक् खड़े रह जाते हैं कि तू इस फटे पुराने कपड़ों को पहिननेवाली भिखारिनी लड़की को धूल से उठाने के लिये अपने रथ से उतरता है और उसे अपने निकट बैठाता है, परन्तु वह लाज और मान के कारण ग्रीष्मपवन में लता की भाँति काँपती है।

"समय बीतता जा रहा है और तेरे रथ के पहियों की आवाज अबतक सुनाई नहीं देती। बहुत से जुलूस बड़ी धूम-धाम और चमकदमक के साथ निकलते जाते हैं। क्या केवल तू ही सबके पीछे छाया के नीचे खड़ा रहेगा? और क्या केवल मैं ही प्रतीक्षा करती रहूँगी और व्यर्थ कामना के वश हो रो रोकर अपने हृदय को जीर्ण करूँगी?"

चौथा अध्याय।

रवीन्द्रनाथ और जातिभेद।

भारत के राष्ट्रीय जीवन के स्रोत को शक्तिहीन करने में जातिभेद ने बड़ा काम किया है। पर यह बुराई जातिभेद के असली तत्व को भूल जाने के कारण हुई है। जातिभेद के दुरुपयोग ने जहाँ भारत का बड़ा नुकसान हुआ है, वहाँ जातिभेद के सदुपयोग से भारत को बड़ा लाभ भी हुआ था। जब आर्य लोग पहिलेपहल इस देश में आये थे, तब उन्हें इस देश के मूलनिवासियों से मुकाबला करना पड़ा था। आर्यों में आत्मिक भावना थी। वे नहीं चाहते थे कि इस देश के मूलनिवासियों का नाश कर दिया जावे, अथवा देश से निकालकर वे बाहर कर दिये जावें। वे इस ढंग का सामाजिक संगठन करना चाहते थे जिससे अनार्य लोग भी उनमें मिल जावें। इस उद्देश को साम्हने रखकर उन्होंने समाजसंगठन किया। इस समाजसंगठन का पाया उन्होंने आत्मिक ऐक्य पर रखा। उन्होंने गुण-कर्मों के अनुसार अपने चार वर्ण रच

वाले और चौथे वर्ग में अनार्य लोगों को शामिल कर लिया। अब इन सब लोगों की एकता हो गई। सभी लोग अपने आपको एक समाज के समझने लगे। तात्पर्य यह है कि हमारे हिंदू-समाज में यह जातिभेद आत्मिक एकता के तत्त्व पर खड़ा किया गया था—फूट पर नहीं। आर्य लोगों ने इस प्रकार की समाज-रचना करके समाज की विरोधी शक्तियों का नाश कर एकता पर समाज की नींव डाली। समाज के लोग एकता की रक्षा करते हुए और अपने को एक ही समाज के अंग मानते हुए अपनी आत्मिक प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करने लगे। जिस मनुष्य ने जो कार्य स्वीकार किया उसे उसीके अनुकूल दर्जा प्राप्त हो गया। उस समय जिन लोगों की आत्मिक भावनाएँ बहुत ऊँची थीं, जो समाज को आत्मिक प्रकाश देते थे, जो समाज के धार्मिक नेता होने की योग्यता रखते थे तथा जो उस परमानन्द से तल्लीनता का अनुभव करते थे, वे ब्राह्मण बन गये और इस संगठन में सर्वोपरि रखे गये। समाज को आध्यात्मिक प्रकाश देना उनका कर्तव्य समझा गया। प्रारम्भ में इस श्रेणी में इतनी उच्च आत्माएँ थीं कि जिन्हें धन से स्वाभाविक घृणा थी, जो मान, माया, लोभ से परे थे, जिनका लक्ष्य केवल आत्मा था और जिनमें आत्मिक तत्त्वों का विकास होता रहता था। कविवर रवीन्द्रनाथ ने पूर्व समय में जातिभेद की उत्पत्ति, लक्ष्य तथा ब्राह्मणों का वर्णन करते हुए लिखा है—

"पूर्व समय में ब्राह्मणों का एक खास सम्प्रदाय था। उन पर एक विशेष कार्य का भार था। उस कार्य में विशेष उपयोगी बने रहने के लिये उन लोगों ने अपने चारों ओर कुछ आचरण-अनुष्ठानों की एक सीमा–रेखा खींच ली थी। वे लोग अत्यन्त सावधानी के साथ अपने चित्त को उस सीमा के भीतर ही रखते थे–बाहर नहीं जाने देते थे। प्रायः सभी कामों में ऐसी ही उपयोगी सीमा हुआ करती है, जो दूसरे कामों के लिये बाधा-स्वरूप होती है। हलवाई की दूकान में यदि वकील अपना धन्धा चलाना चाहे तो हजारों तरह की रुकावटें और विघ्न उपस्थित हुए बिना न रहेंगे। ऐसे ही जहाँ पहिले किसी वकील का कार्यालय रहा हो वहाँ यदि विशेष कारणवश हलवाई की दूकान खोलनी पड़े तो उस समय कुर्सी, मेज़, कागजपत्र और आलमारियों में तह की तह सजी हुई कानूनी रिपोर्टों का मोह करने से काम कभी नहीं चल सकता है।" इन वाक्यों में रवीन्द्रनाथ ने जातिभेद का तत्व तथा पुराने समय के ब्राह्मणों का कर्तव्य बहुत ही अच्छी तरह से दिखलाया है। उन्होंने यह दिखला दिया है कि अर्थशास्त्र में "श्रमविभाग" का जो तत्व है, वही तत्व हमारे जातिभेद पर लागू होता है। इसमें एक और भी विशेषता यह है कि आजकल के "श्रमविभाग" के तत्व में केवल अर्थ ही की दृष्टि है और हमारे मूल जातिभेद में धन्धे की दृष्टि के साथसाथ आत्मिक

एकता का भी ध्यान रखा गया है। रवीन्द्र के मतानुसार आजकल का जातिभेद अपने मूल आदर्श से बहुत गिर गया हुआ है। जिन तत्वों पर जातिभेद कायम किया गया था, उनमें घोर विपर्यास हो गया है। ब्राह्मण जाति को लीजिये। पूर्वकाल में इनका जीवन ही धर्ममय था। येही समाज को सुपथ पर ले जाने के लिये प्रकाश दिखलाते थे। पर आज इनकी कितनी दुर्दशा है! आज ये अपने आदर्श से कितने गिरे हुए हैं! रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—

"इस समय ब्राह्मणों में पहिले की सी विशेषता न रही। वे केवल पढ़ने पढ़ाने और धर्म-चर्चा करने में नहीं लगे हुए हैं। उनमें से अधिकांश ब्राह्मण नौकरी करते हैं। तपस्या करते हुए तो कोई नहीं दिखाई देता। ब्राह्मण और अन्य जातियों में कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता। ऐसी अवस्था में ब्राह्मणत्व के संकीर्ण घेरे में बन्द रहने से कोई सार्थकता नहीं है। इस समय की दशा को देखने से मालूम होता है कि ब्राह्मणधर्म ने केवल ब्राह्मणों ही को नहीं बाँध रक्खा है, पर जिन शूद्रों के लिये शास्त्र का बन्धन कभी दृढ़ नहीं था, वे भी मौका पाकर उसमें घुस गये हैं। अब वे उस जगह को किसी तरह छोड़ना नहीं चाहते।

"पहिले ज़माने में ब्राह्मणों ने केवल ज्ञान और धर्म का अधिकार ग्रहण कर रखा था। ऐसी दशा में समाज के अनेक-

"पूर्व समय में ब्राह्मणों का एक खास सम्प्रदाय था। उन पर एक विशेष कार्य का भार था। उस कार्य में विशेष उपयोगी बने रहने के लिये उन लोगों ने अपने चारों ओर कुछ आचरण-अनुष्ठानों की एक सीमा-रेखा खींच ली थी। वे लोग अत्यन्त सावधानी के साथ अपने चित्त को उस सीमा के भीतर ही रखते थे—बाहर नहीं जाने देते थे। प्रायः सभी कामों में ऐसी ही उपयोगी सीमा हुआ करती है, जो दूसरे कामों के लिये बाधा-स्वरूप होती है। हलवाई की दूकान में यदि वकील अपना धन्धा चलाना चाहे तो हजारों तरह की रुकावटें और विघ्न उपस्थित हुए बिना न रहेंगे। ऐसे ही जहाँ पहिले किसी वकील का कार्यालय रहा हो वहाँ यदि विशेष कारणवश हलवाई की दूकान खोलनी पड़े तो उस समय कुर्सी, मेज़, कागजपत्र और आलमारियों में तह की तह सजी हुई कानूनी रिपोर्टों का मोह करने से काम कभी नहीं चल सकता है।" इन वाक्यों में रवीन्द्रनाथ ने जातिभेद का तत्त्व तथा पुराने समय के ब्राह्मणों का कर्तव्य बहुत ही अच्छी तरह से दिखलाया है। उन्होंने यह दिखला दिया है कि अर्थशास्त्र में "श्रमविभाग" का जो तत्त्व है, वही तत्त्व हमारे जातिभेद पर लागू होता है। इसमें एक और भी विशेषता यह है कि आजकल के "श्रमविभाग" के तत्त्व में केवल अर्थ ही की दृष्टि है और हमारे मूल जातिभेद में धन्धे की दृष्टि के साथसाथ आत्मि

एकता का भी ध्यान रखा गया है। रवीन्द्र के मतानुसार आजकल का जातिभेद अपने मूल आदर्श से बहुत गिर हुआ है। जिन तत्वों पर जातिभेद कायम किया गया था, उनमें घोर विपर्यास हो गया है। ब्राह्मण जाति को लीजिये। पूर्वकाल में इनका जीवन ही धर्ममय था। येही समाज को सुपथ पर ले जाने के लिये प्रकाश दिखलाते थे। पर आज इनकी कितनी दुर्दशा है! आज ये अपने आदर्श से कितने गिरे हुए हैं। रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—

"इस समय ब्राह्मणों में पहिले की सी विशेषता न रही। वे केवल रटने रटाने और धर्म-चर्चा करने में नहीं लगे हुए हैं। उनमें से अधिकांश ब्राह्मण नौकरी करते हैं। तपस्या करते हुए तो कोई नहीं दिखाई देता। ब्राह्मण और अन्य जातियों में कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता। ऐसी अवस्था में ब्राह्मणत्व के संकीर्ण घेरे में बन्द रहने से कोई सार्थकता नहीं है। इस समय की दशा को देखने से मालूम होता है कि ब्राह्मणधर्म ने केवल ब्राह्मणों ही को नहीं बाँध रखा है, पर जिन शूद्रों के लिये शास्त्र का बन्धन कभी दृढ़ नहीं था, वे भी मौका पाकर उसमें घुस गये हैं। अब वे उस जगह को किसी तरह छोड़ना नहीं चाहते।

"पहिले जमाने में ब्राह्मणों ने केवल ज्ञान और धर्म का अधिकार ग्रहण कर रखा था। ऐसी दशा में समाज के अनेक-

छोटेमोटे कामों का भार शूद्रों पर आ पड़ना स्वाभाविक ही था। इसी कारण उन शूद्रों पर रहनेवाले आचार-विचार और यन्त्रतन्त्र के हजारों बन्धनपाश हटा दिये गये थे और उन्हें बहुत कुछ स्वच्छन्द गति का अवसर दे दिया गया था। पर वर्तमान समय में एक भारत-व्यापी भारी मकड़ी के जाले में ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक सब के हाथ-पैर बँध गये हैं और वे मुर्दों की तरह निश्चल होकर पड़े हुए हैं। वे न तो पृथ्वी का काम करते हैं और न परमार्थ-रूप योग का ही साधन करते हैं। पहिले जो काम था वह भी बन्द हो गया है और इस समय जो काम आवश्यक हो पड़ा है उसके होने में भी पगपग पर रुकावटें डाली जाती हैं।

"अतएव हमको समझना चाहिये कि इस समय हम जिस गति-शील संसार में अचानक आ गये हैं, उसमें रहकर यदि हमें अपनी प्राण-रक्षा और मानरक्षा करनी है तो हर घड़ी साधारण आचार-विचारों को लेकर तर्क-वितर्क करने से या कपड़ा समेटकर, नाक की नोक सिकोड़कर, बेतरह सँभल सँभलकर पैर रखने से काम नहीं चलेगा। ऐसा सोचना भूल है कि यह विशाल विश्वब्रह्माण्ड कीचड़ का कुण्ड है, सावनभादों की कच्ची सड़क है, पवित्र पुरुषों के चरण-कमल रखने के अयोग्य है। इस समय यदि प्रतिष्ठा चाहते हो तो उसके लिये चित्त की उदारता, सर्वाङ्गीन नीरोगता, स्वस्थ , शरीर और बुद्धि की प्रबलता, ज्ञान के प्रचार और

प्रसार तथा विश्रामहीन तत्परता की बड़ी आवश्यकता है। चाहिये इस ओर ध्यान दो ।

"हम लोग पृथ्वी के अन्य लोगों के द्वारा छू जाने से भी यत्न-पूर्वक बचकर, अपने महामान्य "अपनेपन" को सदा धो माँजकर, छिप छिपकर, और दूसरों को नीच म्लेच्छ आदि नाम देकर, उनसे घृणा करते हुए जिस ढंग से चल रहे थे उनको आध्यात्मिक बाबूआना या शौकीनी कहते हैं मनुष्यत्व इस प्रकार की अति विलासिता से धीरे धीरे निकम्मा और चौपट हो जाता है ।

"जड़ पदार्थ ही शीशे के घेरे में बन्द रखा जाता है। किन्तु जड़ और जीव के भेद को भूलकर जीव को भी खूब साफ रखने के लिये यदि हम उसे निर्मल काँच के भीतर बन्द रख दें तो यह सच है कि उसमें धूल का आना रुक जावेगा, परन्तु उसके साथ ही जीव की गति भी रुकेगी, अर्थात् ऐसा करना मलिनता और जीवन दोनों को ही यथासम्भव घटा देना है ।

"हमारे पण्डित लोग कहा करते हैं, कि हम लोगों ने जो एक अद्भुत आर्यपवित्रता प्राप्त की है वह बहुत साधन करने से मिली है। वह बड़ी ही कीमती चीज है। उसकी बड़ी साव-धानी से रक्षा करने की आवश्यकता है, इसीलिये हम लोग

सब प्रकार से म्लेच्छों और यवनों से बचने की—उनसे छू तक न जाने की—चेष्टा किया करते हैं।

"इस सम्बन्ध में दो बातें बतलानी हैं। एक तो यह है कि यद्यपि हम सब लोग विशेष रूप से पवित्रता की चर्चा करनेवाले या पवित्र रहनेवाले नहीं हैं, तथापि अधिकांश मनुष्य-जाति को अपवित्र समझकर सर्वथा अन्यायपूर्ण विचार, अमूलक अहंकार और आपस में व्यर्थ का अन्तर या विरोध उत्पन्न करने का उद्योग करते हैं। इस बात को बहुत से लोग स्वीकार ही नहीं करते। पवित्रता की दुहाई देकर हम लोग जो विजातीय मनुष्यों से घृणा करते हैं, वह घृणा हमारे चरित्र के भीतर घुन का काम कर रही है।"

हमने ऊपर रवीन्द्रनाथ के जो विचार दिये हैं, उनसे पाठकों को वर्तमान जातिभेद का रहस्य मालूम हो गया होगा। जो जातिभेद सामाजिक ऐक्य के लिये स्थापित किया गया था, उसीके बिगड़े हुए रूप से सामाजिक फूट को अंकुरित होते हुए देखकर रवीन्द्रनाथ दुःखी होते हैं। जातिभेद के वर्तमान घृणित रूप ने हमारे हृदयों को संकीर्णता और दूसरी जाति के हमारे भाइयों के प्रति घृणा के भाव से भर रखा है। हम अपने कई भाइयों को छूने तक में पाप समझते हैं। हम उन्हें ऊँचा उठने का मौका नहीं देते। हमारी धारणा हो गई

है कि वे नीच काम करने ही के लिये—दासता करने ही के लिये—उत्पन्न हुए हैं। वे इस जन्म में विकास नहीं कर सकते। विकास करने के लिये उन्हें दूसरे जन्म की आवश्यकता है। इस प्रकार के सङ्कीर्ण और घृणित विचारों से हम उनकी आत्मा के विकास के मार्ग को रोकते हैं। हम उनकी प्रतिभा की वृद्धि के मार्ग में काँटे बिछाते हैं। इस तरह हम सङ्कीर्ण जातिभेद की भावना से हम मनुष्यजाति के एक अंश को आत्मिक और शारीरिक दासता में रखने का भारी पाप कर रहे हैं। हम लोग कहते हैं कि हमारे आत्मिक विकास के लिये राजनैतिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। हम इच्छा करते हैं कि हमें भी विकास करने के लिये वेही मौके मिलें जो पाश्चिमात्य राष्ट्रों को मिले हैं। हम चाहते हैं कि सड़क पर दूसरे लोगों के मुकाबले में हम बराबरी के साथ घूमे फिरें और हमें वे सब अधिकार प्राप्त हो जावें जो पाश्चात्य राष्ट्रों के लोगों को प्राप्त हैं। पर हम अपने इन अछूत कौमों के भाइयों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं? हम उन्हें किस तरह जानवर से भी नीच समझते हैं? हम उनसे किस प्रकार घृणा करते हैं? किस प्रकार हम उनके आत्मविकास के मार्ग पर कण्टक बिछाते हैं! इन बातों का विचार बहुत कम लोग करते होंगे। महात्मा ईसामसीह का कहना है कि जैसा तुम अपने प्रति दूसरों का बर्ताव चाहते हो, वैसा ही तुम उनके प्रति बर्ताव करो। हमें चाहिये कि हम अपने इन भाइयों को ऊपर उठावें।

उन्हें उस दिव्य तत्त्व का ज्ञान करावें, जो उनकी आत्मा में सदा निवास कर रहा है। हमें चाहिये कि हम उन्हें आत्मिक स्वाधीनता का अवसर दें, उनकी आत्म-विस्मृति को मिटाकर उन्हें उस अनन्त चैतन्य का ज्ञान करावें जो सब में भरा हुआ है। हम उन्हें यह दिखलावें कि जैसी आत्मा किसी बड़े से बड़े सम्राट में है, वैसी ही तुममें है, तुम अपनी आत्मा का विकास कर सकते हो; तुम अपनी आत्मशक्तियों से संसार को हिला सकते हो; तुम्हें भी वे अधिकार प्राप्त हैं जो तुम्हारे अन्य भाइयों के हैं। इस प्रकार के उपदेश से और उनके साथ बराबरी का बर्ताव करने से हम अपने एक लूले अङ्ग को पुष्ट बना सकते हैं और मनुष्यजाति के एक बड़े अंश की आत्मा को विकसित करने का पुण्य कमा सकते हैं।

यह कितने दुःख की बात है कि जातिभेद के इस बिगड़े हुए वर्तमान रूप के कारण समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंश करुणाजनक दासता में पड़ा हुआ है और दूसरा अंश बहुत कुछ भ्रष्ट हो जाने पर भी समाज में उच्च आसन पर बैठा हुआ है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि वर्तमान ब्राह्मण लोग अपने आदर्श–ब्रह्मज्ञान–से बहुत दूर हैं। जिन महान और आध्यात्मिक सद्गुणों के कारण समाज में ब्राह्मणों का सर्वोच्च आसन था, वे गुण अब उनमें कहाँ दिखलाई देते हैं ? पूर्वकाल में ब्राह्मण लोग अपने ब्रह्मतेज

और आत्मिक तपश्चर्या के कारण समाज को आध्यात्मिक सौन्दर्य तथा आत्मिक आनन्द से आलोकित करते थे, क्या आज भी वे ऐसा ही करते हैं ? यद्यपि हम यह स्वीकार करते हैं कि आज भी कुछ ब्राह्मण ऐसे हैं, जो ब्राह्मणत्व के उच्च-पद को बहुत कुछ सार्थक कर रहे हैं और जिन्हें उनके गुण-कर्मों के अनुसार ब्राह्मण ही कहना चाहिये, तथापि ऐसे महापुरुष बहुत थोड़े ही हैं। आज ब्राह्मणजाति के बहुत से लोगों की बड़ी ही पतित दशा है। उनके कर्म शूद्र के से होने पर भी वे ब्राह्मण कहलाते हैं और बेचारे शूद्रों का कर्म यदि ब्राह्मणों के समान भी हो जाय तो भी वे आजन्म शूद्र ही बने रहते हैं। यह बड़ा भारी सामाजिक अन्याय है। आज हिन्दू जाति इसी अन्याय का प्रायश्चित्त भुगत रही है। योग्यता के विकास के अनुसार उच्च पद पर पहुँचने का अधिकार समाज के प्रत्येक मनुष्य के पास होना चाहिये। वह समाज आदर्श स्वरूप है, जहाँ एक नीच कुल में पैदा हुआ बच्चा भी अपनी योग्यता और सद्गुणों के प्रभाव से सर्वोच्च पद पर बैठ सके। जिस समाज में यह व्यवस्था नहीं है, वह आदर्श समाज नहीं है और संसार में मनुष्यजाति उसे गौरव की दृष्टि से नहीं देख सकती।

सामाजिक अन्याय के कारण शूद्र तो इस प्रकार गिरी हुई दशा में पड़े हुए हैं और बहुत से ब्राह्मण नीच कर्म करते हुए

आत्मसम्मान का अन्तर है। दोनों परस्पर-विरोधी हैं। पाश्चि- मात्य सभ्यता रुपयों की सभ्यता है। जिस देश के पास जितना अधिक धन है वह उतना ही अधिक सभ्य समझा जाता है। हमारी सभ्यता आत्मिक सभ्यता है। पाश्चिमात्य सभ्यता में प्रतिस्पर्धा और परस्पर ईर्षा बढ़ती है; हमारी आर्यसभ्यता समाज को आध्यात्मिक एकता और विश्वबंधुत्व का सन्देश सुनाती है। हमारी सभ्यता धन का आवश्यकता से अधिक आदर नहीं करती, वह आत्मा ही का विशेष आदर करती है। हमारे जातिभेद का मूलतत्व विश्वव्यापी प्रेम और बन्धुत्व की ओर संकेत करता है, हमारे जातिभेद के असली तत्व के नीचे स्वाधीनता भरी हुई है। स्वाधीनता ही उसका मूल है और स्वाधीनता ही उसका अन्तिम उद्देश है। पाश्चि- मात्य देशों की वर्ण-विभाग-पद्धति आधिभौतिक है और हमारे जातिभेद की मूल कल्पना आध्यात्मिक है। वहाँ आधुनिक जीवन का जो दृश्य है, वह श्रद्धाविहीन है—वह मनुष्य की आत्मिक आवश्यकताओं को तृप्त नहीं कर सकता। हमें तो जातिभेद की मूलभूत आदर्श कल्पना से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और विश्वव्यापी प्रेम तथा बन्धुत्व की नींव पर अपनी सभ्यता की इमारत खड़ी करनी चाहिये। हमारे इन वाक्यों से पाठक यह न समझ लें कि हम जातिभेद के वर्तमान सङ्कीर्ण रूप का समर्थन कर रहे हैं। हमारा आशय जातिभेद की उस

भी वही इज्जत चाहते हैं जो उनके विद्वान और आदर्शचरित पूर्व-पुरुषों की हुआ करती थी। वे अपने पूर्वपुरुषों के आत्मिक आदर्श और आध्यात्मिक शक्ति का तो अनुकरण नहीं करते, परन्तु अपनेको मूर्ख और भटके हुए समाज के हाथ से मुफ्त ही में पुजवाना चाहते हैं। इससे सामाजिक व्यवस्था में गड़बड़ होती है। पहिले ब्राह्मणों का आसन इसलिये सर्वोपरि था कि वे उच्च श्रेणी के दार्शनिक थे, उनकी विकसित आत्मा से नये आध्यात्मिक तत्वों का प्रसार होता था, वे आत्मिक सौन्दर्य को प्रकाशित करते थे, सत्य की खोज में अपना सारा समय बिताते थे और समाज का नैतिक विकास करने में कारणीभूत होते थे। इतना ही नहीं, वे समाज के राजनैतिक और आर्थिक जीवन को भी पुष्ट बनाने में सहायक होते थे। इसीसे उस जमाने के ब्राह्मण पूजे जाते थे। ब्राह्मणों की रक्षा करना, शान्ति रखना और राजनैतिक व्यवस्था करना क्षत्रियों का कर्त्तव्य था। व्यापार और खेती करनेवाले लोग भी इसमें शामिल थे। समाज का यह सङ्गठन कुलीनतन्त्रीय (aristocratic) था। सामाजिक दृष्टि से ऊँचे चढ़ने के लिये उस समय धन की वृद्धि पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था, जितना आत्मा के विकास पर। कौन आदमी कितना बड़ा है, इसका अनुमान जड़ सम्पत्ति से नहीं, आत्मिक सम्पत्ति से किया जाता था। आजकल की पाश्चिमात्य सभ्यता के और हमारी आर्य्य सभ्यता के आदर्श में जमीन

आसमान का अन्तर है। दोनों परस्पर-विरोधी हैं। पाश्चि-मात्य सभ्यता रुपयों की सभ्यता है। जिस देश के पास जितना अधिक धन है वह उतना ही अधिक सभ्य समझा जाता है। हमारी सभ्यता आत्मिक सभ्यता है। पाश्चिमात्य सभ्यता में प्रतिस्पर्धा और परस्पर ईर्षा बढ़ती है; हमारी आर्यसभ्यता संसार को आध्यात्मिक एकता और विश्वबंधुत्व का सन्देश सुनाती है। हमारी सभ्यता धन का आवश्यकता से अधिक आदर नहीं करती, वह आत्मा ही का विशेष आदर करती है। हमारे जातिभेद का मूलतत्व विश्वव्यापी प्रेम और बन्धुत्व की ओर संकेत करता है, हमारे जातिभेद के असली तत्व के नीचे स्वाधीनता भरी हुई है। स्वाधीनता ही उसका मूल है और स्वाधीनता ही उसका अन्तिम उद्देश है। पाश्चि-मात्य देशों की वर्ण-विभाग-पद्धति आधिभौतिक है और हमारे जातिभेद की मूल कल्पना आध्यात्मिक है। वहाँ आधुनिक जीवन का जो दृश्य है, वह श्रद्धाविहीन है—वह मनुष्य की आत्मिक आवश्यकताओं को तृप्त नहीं कर सकता। हमें तो जातिभेद की मूलभूत आदर्श कल्पना से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और विश्वव्यापी प्रेम तथा बन्धुत्व की नींव पर अपनी सभ्यता की इमारत खड़ी करनी चाहिये। हमारे इन वाक्यों से पाठक यह न समझ लें कि हम जातिभेद के वर्तमान सङ्कीर्ण रूप का समर्थन कर रहे हैं। हमारा आशय जातिभेद की उस

आदर्श कल्पना से है, जिसका उद्देश आत्मिक एकता था। जातिभेद के वर्तमान रूप में सुधार की बहुत आवश्यकता है। जातिभेद के इस सङ्कीर्ण रूप की, जिसमें दूसरे के लिये जगह नहीं, अब आवश्यकता नहीं। मूल जातिभेद के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है —

" इस जातिभेद ने स्वाधीनता को बहुत प्रोत्साहन दिया है और संकीर्णता के भावों को कम किया है। इसने सहनशीलता का पवित्र आदर्श दिखलाया है और भिन्नभिन्न संस्कार और संस्कृति के लोगों का तथा, परस्पर-विरोधी सामाजिक और धार्मिक रस्म-रिवाजों तथा आदर्शों का निकटस्थ सम्बन्ध करा दिया है .. .... । "

मतलब यह है कि एक समय इस जातिभेद ने हमारा बड़ा उपकार किया था, पर आज इसी जातिभेद का बिगड़ा हुआ रूप हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधा उपस्थित कर रहा है। आज का जातिभेद जीवन के स्रोत को और मन की गतिशीलता को नहीं पहिचान रहा है। वह इस बात को नहीं समझ रहा है कि " मानव प्राणियों में जो भेद हैं, वे पर्वत की चट्टान की तरह जमे हुए नहीं हैं—जीवनस्रोत के साथ-साथ ये बह निकलते हैं और अपना रंग-रूप तथा . . . रहते हैं। " जातिभेद का असली तत्व . है। मनुष्य ने जो विशाल सामाजिक यन्त्र

बनाया है, वह आत्मा को पीस रहा है । स्वतन्त्र विचार और व्यक्तित्व की भावना नष्ट हो रही है । मनुष्य इस यन्त्र के फेर में फँस गया है । मनुष्य के जीवन और आत्मा की पुन-र्प्राप्ति के लिये इस यंत्र को अपनी प्रकृति बदलनी होगी। यदि हम अपने मन को दुर्बल कर लेंगे, अपनी स्वाधीनता को कैद-खाने मे बन्दकर संकीर्ण कर लेंगे और अन्धे होकर अनुसरण ही करते रहेंगे तो हमारा छुटकारा कभी न होगा । ज्यों ज्यों बचा बाहर घूमने लगता है त्यों त्यों उसका मन अधिकाधिक स्वाधीनता चाहता है । हमें आत्मिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिये घर के द्वारों को खोल देना चाहिये और अपने बन्द घर की दीवालों को गिराकर अपने अन्तःकरण को प्रकाशित करने के लिये ईश्वरी प्रकाश को खुले तौर से भीतर आने देना चाहिये ।

कविसम्राट रवीन्द्रनाथ आधुनिक काल के सामाजिक प्रश्नों को आर्थिक तथा उपयोगिता की संकीर्ण दृष्टि से नहीं देखते । वे इन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से देखते हैं । उनका मत है कि वर्तमान सामाजिक असन्तोष तब ही मिट सकता है, जब मनुष्य में निवास करनेवाली दिव्य सत्ता की ओर ध्यान दिया जावे । भौतिकवाद की दृष्टि हमें गरीबी से डराती है, पर आध्यात्मिक दृष्टिवाले राष्ट्र के लोग गरीबी से उतने नहीं डरते और न ऐसे देश में गरीबी सामाजिक असन्तोष का कारण

होती है। भारतवर्ष बहुत गरीब है, पर शताब्दियों से उस पर होनेवाले आध्यात्मिक संस्कारों के कारण भारतवासियों ने इतना आत्मसंयम प्राप्त कर रखा है, जिससे गरीबी के प्रश्न के अधिक गम्भीर होने पर भी यहाँ उतना सामाजिक असन्तोष नहीं है जितना पाश्चिमात्य देशों में है। भारतवर्ष में जब भयङ्कर अकाल पड़ता है तथा जब वहाँ इन्फ्लूएन्जा, प्लेग आदि की नरसंहारिणी भीषण बीमारी बढ़ती है तब भी यहाँ के लोग विशेष अशान्त नहीं होते। वे इन दुःखों को शान्तिपूर्वक सह लेते हैं। दुःख और क्लेश में वे भीख माँग लेते हैं, प्रार्थना करते हैं, रोते हैं और अन्त में अपनी आत्मा को ईश्वरार्पण कर चुपचाप प्राणत्याग कर देते हैं। यहाँ हड़तालें, दंगे तथा अन्य उपद्रव बहुत कम देखे जाते हैं। बम्बई आदि में जो हड़तालें हुई वे पश्चिम का अनुकरण मात्र थीं—उनमें भारतीयपन नहीं था। सारांश यह है कि जड़वाद की दृष्टि ही सामाजिक असन्तोष का कारण है और आध्यात्मिक दृष्टि सामाजिक शान्ति को स्थिर रखने का सर्वोत्कृष्ट उपाय है। प्रोफेसर एल० पी० जेक्स महोदय लिखते हैं कि "जहाँ सबसे अधिक सामाजिक असन्तोष होता है उन देशों को समझना चाहिये कि वे सब से गरीब देश नहीं हैं, बल्कि वे सब से धनवान देश हैं। यह असन्तोष धन के लिये है। पाश्चात्य राष्ट्रों का आदर्श आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त करना ही है। वे यही चाहते हैं कि हम सब से अधिक माल बेचें।

इन देशों में मनुष्य यन्त्रपुंज का एक टुकड़ा मा समझा जाता है—आत्मा पर वहाँ ध्यान नहीं दिया जाता। आजकल पाश्चात्य राष्ट्रों में उद्योग-वाद का साम्राज्य है और इसीने मनुष्यों के हृदयों को जड़ बना रखा है। यह वाद विश्वव्यापी प्रेम और अन्य मानवी सद्गुणों से मनुष्य को दूर रखता है। यह बुराई उत्तम मानवी प्रकृति की ओर विशेष ध्यान देने ही से दूर हो सकती है। आर्थिक व्याधि को आर्थिक औषधि देने ही से वह दूर नहीं हो सकती। इसके लिये तो आध्यात्मिक उपाय ही सर्वोत्कृष्ट हो सकता है। जब सब राष्ट्र "वसुधैव कुटुम्बकम्" के उदार सिद्धान्त के अनुगामी हो जावेंगे और वे परस्पर की आर्थिक प्रतिस्पर्धा त्यागकर आत्मिक एकता प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे तब ही यह व्यापक अशान्ति मिट सकेगी। जबतक राष्ट्रों में परस्पर आर्थिक प्रतिस्पर्धा चलती रहेगी, जबतक आर्थिक दृष्टि से एक देश दूसरे देशों को नीचे गिराने की कोशिश करता रहेगा, तबतक इन्हें न तो वास्तविक सुख मिल सकेगा और न इनकी आत्मा को किसी प्रकार की शान्ति मिलेगी। करोड़ों और अरबों रुपयों का द्रव्य पास रहने पर भी ये असन्तोषी और आत्मिक दृष्टि से दुःखी बने रहेंगे। परम ऐश्वर्यशाली पाश्चिमात्य राष्ट्रों की ओर जरा गहरी दृष्टि डालिये और देखिये कि उनकी आत्मा को कितना सन्तोष है—कितना सुख है। फिर [illegible] मालूम हो जावेगा कि वहाँ सन्तोष के बदले [illegible]धिक है—

सुख की जगह पर दुःख ही विशेष है। इसका कारण यह है कि वे आत्मा को भूल गये हैं। सुख बाहरी पदार्थों में नहीं, आत्मा मे मिलता है। कविसम्राट रवीन्द्रनाथ का यह मत कदापि नहीं है कि तुम अकर्मण्य बनकर योगी बन जाओ, पर उनका यह सन्देश है कि मनुष्यों को निर्जीव कलपुर्जे मत बना डालो। उन्हें मनुष्य बने रहने दो और उनसे अपने देश का आर्थिक विकास भी करवाओ। आत्मा को भूलकर केवल जड़ द्रव्य के पीछे पड़कर जड़ बन जाने को रवीन्द्रनाथ मानव जाति के लिये घोर अनिष्टकर समझते हैं। भारत के सामने आध्यात्मिक आदर्श है और यथाशक्ति उसे सुरक्षित रखना चाहिये। कौन्सिल में कुछ विशेष स्थान मिल जाने से तथा झोपड़ियों में किये जानेवाले उद्योगधन्धों के बदले बड़े बड़े कारखाने खुल जाने से हिन्दुस्थान अपना पूर्व गौरव नहीं प्राप्त कर सकता। जब हिन्दुस्थान की आत्मा स्वतन्त्र हो जावेगी और जब हिन्दुस्थान अपने आत्मिक व्यक्तित्व को सुरक्षित रख सकेगा, तब दूसरी बातें उसे आपही आप प्राप्त हो जावेंगी। ऐसा होने पर ही कहा जा सकेगा कि हिन्दुस्थान में इतिहास का एक नया युग आरम्भ हुआ है।

पाश्चिमात्य सभ्यता मे रँगे हुए हमारे अनेक सुशिक्षित कहलानेवाले भाइयों का कथन है कि पश्चिम का अनुकरण करने ही मे हिन्दुस्थान का उद्धार हो सकता है। वे रवीन्द्रनाथ के

आदर्श को नहीं मानते। वे यह स्वीकार नहीं करते कि हिन्दुस्थान की असलियत को सुरक्षित रखने ही में इस देश का भला होगा। वे संसार की प्रतिस्पर्धा से रक्षा पाने के लिये इस बात को भूल से गये हैं कि अन्त में इसी आदर्श से हिन्दुस्थान की रक्षा होगी। रवीन्द्रनाथ को इस बात का बड़ा दुःख है कि हिन्दुस्थान दिनदिन अधिकाधिक जड़वादी होता जा रहा है। इस बात की सत्यता को वे लोग अच्छी तरह से समझ सकेंगे जो भारत की आत्मा को जानते हैं और जो भारत की प्राचीन सभ्यता से परिचित हैं। हमारे बहुत से भाई इस बात का अभिमान करते हैं कि वे समयानुकूल और व्यावहारिक हैं। पाठको, क्या आप जानते हैं कि व्यावहारिक बनने के लिये उन्हें क्या मूल्य देना पड़ता है? इस मूल्य में वे अपनी आत्मा को बेचते हैं। भारत का आदर्श आत्मा को बेचना नहीं है। अधिक क्या कहें, आत्मा को बेचकर वह संसार का साम्राज्य भी प्राप्त करना नहीं चाहता। यदि हमने कुछ बाहरी पदार्थ प्राप्त कर लिये और कुछ राजनैतिक अधिकार भी हमें मिल गये, परन्तु इनके बदले यदि हमारी आत्मा बिक गई, तो इनसे कुछ लाभ नहीं। हमारा उद्देश यह होना चाहिये कि अपनी आत्मा का गौरव बनाये रखने के लिये हम इन सबको प्राप्त करें, न कि इनकी प्राप्ति में हम अपनी आत्मा के गौरव को खो दें। आत्मा की रक्षा करते हुए यदि हिन्दुस्थान मर भी जावे तो कहा जावेगा कि वह गौरवपूर्ण

है। पश्चिम का भारत पर कितना प्रभाव पड़ा है, इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि आधुनिक भारत को बातबात में सरकार की सहायता की आवश्यकता होती है। हमारे भारतवर्ष पर कई लोगों ने हमला किया, पर इन हमलों का असर भारतीय जनता पर बहुत कम हुआ। शिक्षा, सफाई, खेती, उद्योग-धन्धे आदि लोगों ही के हाथ में थे। पर आजकल ये सब बातें सरकार के हाथ में हैं। आजकल कहीं सरकार से प्रार्थनाएँ की जा रहीं हैं, कहीं अर्जियाँ, मेमोरियल और प्रस्ताव भेजे जा रहे हैं, कहीं विशुद्ध विरोध किये जा रहे हैं, कहीं निःसत्व क्रोध प्रकाशित किया जा रहा है। छोटी छोटी बातों के लिये भी ये कार्रवाइयाँ की जाती हैं। यह विचार कि प्रत्येक काम सरकार के हाथ से होना चाहिये, जड़वादी है और इसे हमने बे समझे-बूझे स्वीकार कर लिया है। राष्ट्र में एक प्रकार की जो जीवनशक्ति हुआ करती है, उसे ध्यान में रखकर हम जब आधुनिक भारत पर दृष्टि डालते हैं तब हमें मालूम होता है कि उसकी राष्ट्रीयता का संगठन होने के बदले उलटी उसकी विच्छिन्नता हुई है—उसकी शक्ति का ह्रास हुआ है। इसलिये रवीन्द्रनाथ उन लोगों को भोले समझते हैं, जो अन्त तक भारत के लिये पश्चिम का अनुकरण करना भला समझते हैं।

रवीन्द्रनाथ भारत के आध्यात्मिक आदर्श में और आजकल के जड़वाद के आदर्श में आकाश-पाताल का अन्तर

देखते हैं। पौर्वात्य सभ्यता धर्म की बेटी है, उसे मरना कर ईश्वर के राज्य में प्रविष्ट होना सहज है। पूर्व में धन-दौलत की अपेक्षा आत्मा पर अधिक ध्यान दिया जाता है, बुद्धि की अपेक्षा अन्तःप्रेरणा पर विशेष लक्ष्य रखा जाता है, विज्ञान से धर्म का अधिक महत्त्व समझा जाता है और स्वाधीनता पर विशेष प्रेम किया जाता है। भारतवर्ष के इसी उच्चतम आदर्श के कारण रवीन्द्रनाथ भारतमाता के पुत्र होने में अपना परम सौभाग्य समझते हैं। इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ के जो वाक्य हैं, उन्हें यहाँ हम फिर दुहराना चाहते हैं

"धन्य है मेरा जीवन कि मैंने इस देश में जन्म लिया है। माता! धन्य है मेरा जीवन कि मैंने तुमसे प्रेम किया है। मैं नहीं जानता कि तेरे पास एक महारानी की तरह सम्पत्ति है या नहीं। मैं तो यह जानता हूँ कि जब जब मैं तेरी छाया में खड़ा रहता हूँ तब तब मेरी नस-नस में शान्ति छा जाती है। मैं नहीं जानता कि ये फूल कहाँ खिल रहे हैं जिनकी सुगन्धि से मेरी आत्मा पागल हो रही है। मैं नहीं जानता कि वह आकाश कहाँ है, जिसमें मधुर हास्य करनेवाला चन्द्रमा उदय होता है। माता! पहिले-पहल मेरे नेत्र तेरे प्रकाश से खुले और अन्त में उसी प्रकाश में वे बन्द हो जावेंगे।"

यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इन लोगों से रवीन्द्रनाथ की नहीं बनती जो किसी प्रकार का रहस्य जाने

बिना प्राचीन बातों से घृणा करते हैं और भारत के भूत-काल को अविच्छिन्न अन्धकारमय मानते हैं। इसी प्रकार वे उन लोगों से भी सहमत नहीं हैं जो पुरानी बातों को आँखें मीचकर ग्रहण कर लेते हैं और नई बातों की ओर आँखें उठाकर भी नहीं देखते। उनका मत है कि हमारी उन्नति और सुधार प्राचीन आदर्शों की रक्षा पर निर्भर है। हम अपने प्राचीन आदर्श को स्थिर रखते हुए पश्चिम से भी वे बातें ग्रहण करें जो श्रेष्ठ और उदार हैं। अर्थात् रवीन्द्रनाथ पूर्व के आदर्शों की प्रधानता रखते हुए पूर्व और पश्चिम का प्रेमसम्मेलन चाहते हैं।

रवीन्द्रनाथ का मत है कि तुम अपनी सभ्यता को तिलाञ्जलि देकर पश्चिमी सभ्यता के दास मत बन जाओ, पर पश्चिमी सभ्यता में जो अच्छे तत्व हैं, उन्हें अपनी सभ्यता में मिलाकर अपने बना लो। भारतवर्ष में अभी तक जीवन-शक्ति क्यों पाई जाती है? इसका कारण यही है कि जबजब वह परकीय सभ्यता के संयोग में आया, तबतब उसने अपने आदर्शों को सुरक्षित रखकर उस सभ्यता के गुणों को अपने में मिला लिया। यहाँ इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि जो कुछ हम दूसरों से ग्रहण करें, उसमें यह अवश्य देखें कि वह नूतन वस्तु हमारी आवश्यकताओं और जीवन के अनुकूल है या नहीं। भारतवर्ष भी अपनी कुछ

विशेषताओं का अभिमान रखता है। उसमें भी एक खास तरह की जीवनशक्ति और आत्मा है। वह यदि वह सकता है और शक्तिमान हो सकता है तो पाश्चिमात्य संस्कृति को ग्रहण करने से नहीं, बल्कि अपना आदर्श कायम रखते हुए उन्हें अपनी सभ्यता में मिला लेने से हो सकता है। जिस वस्तु पर वह हाथ डाले तथा जिस तत्व को वह ग्रहण करे, उसपर वह अपने प्रभाव की मुहर लगा दे। यदि वह ऐसा न करेगा तो कहा जावेगा कि उसने कोई नवीनता उत्पन्न नहीं की—केवल अनुकरण किया। इतिहास के आरम्भ से ही भारतवर्ष की यह विशेषता रही है कि वह परकीय अच्छी बातों को अपने में मिला लेता था। जब आर्य लोग यहां आकर हिमालय के तट पर बसे थे, उस समय यहाँ द्रविड़-सभ्यता प्रचलित थी। आर्यों ने उसे बहुत कुछ अपने में मिला लिया। इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ लिखते हैं-—

"कोई यह न समझे कि अनार्यों ने आर्यों के जीवन के मूल को थोड़ा भी नहीं बढ़ाया। प्राचीन द्रविड़ सभ्यताशून्य नहीं थे। उन लोगों की सभ्यता के संयोग ने आर्य सभ्यता को विविधतामय बनाया और उसमें विशेष आत्मशक्ति को प्रविष्ट किया। वे भावुकता, कल्पनाशक्ति, गायन और निर्माण-कार्य में उच्च श्रेणी के थे। वे कला-कौशल्य में श्रेष्ठ थे। आर्यों का विशुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान मूल-निवासियों की रसप्रधान प्रकृति और सौन्दर्य-

परीक्षाशक्ति में मिलकर एक उत्कृष्ट श्रेणी का मिश्रण बन गया। वह मिश्रण विशुद्ध आर्य भी नहीं है और विशुद्ध अनार्य भी नहीं है; वह हिन्दुत्व-पूर्ण है।" इसके बाद इसी प्रकार हिन्दू धर्म ने बौद्ध धर्म के तत्वों को भी अपने में मिला लिया। हिन्दू धर्म ने सब बाहरी प्रभावों को अपने में मिलाकर उन्हे अपने आदर्श के अनुसार बना लिया। भारत ने बाहरी प्रभावों का सदा से आदर किया है; परन्तु उसमें खूबी यह है कि वह इनसे परकीय न बन गया—उन्हें इसने स्वयं अपना बना लिया। इसीसे कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म पुराना भी है और नया भी है; इसमें पुराने और नये का दिव्य मिश्रण हुआ है। हिन्दू धर्म में यह एक बड़ी विलक्षण बात है कि उसमे अन्य प्रभावों को अपने में मिला लेने की शक्ति और विशालता है।

यदि हम अपनी राष्ट्रीयता को सजीव बनाना चाहते हैं तो हमें चाहिये कि हम इसका अंतरंग संगठन करें—इसकी नींव आत्मतत्व पर डालें। हमारी उन्नति का सब आशा-भरोसा हमारी आन्तरिक उन्नति पर अवलम्बित है। भारत का प्रकाशमय भविष्य उसकी आत्मा के सामयिक विकास पर निर्भर है। आत्मशक्ति जीवन-प्रवाह का असली रहस्य है, यदि भारतवर्ष पहिले आत्मशक्ति प्राप्त कर ले तो संसार की कोई शक्ति उसके इस नवबल के साम्हने

खड़ी न हो सकेगी। यदि आत्मा शक्तिहीन है—मुर्दा है, तो उसका मुरझाना तथा उसकी मृत्यु होना अनिवार्य है। संसार का कोई बाह्य साधन इसे नहीं रोक सकता। पर इसके विपरीत यदि आत्मा तन्दुरुस्त है, तो वह बड़ी बड़ी विपत्तियों को हटा सकेगी, नाश से अपनी रक्षा कर सकेगी और भयंकर प्रतिरोध का भी सामना कर सकेगी—उसपर किसी की सत्ता न चलेगी। उसके तेज के आगे कोई खड़ा न रह सकेगा। जिस राष्ट्र की आत्मा के सामने आत्मिक आदर्श है, वह कभी पराजित नहीं की जा सकती।

आत्मशक्ति की प्राप्ति के लिये उपनिषदों में कहा है कि वह निर्बलों से प्राप्त नहीं की जा सकती। आत्मा की पुनर्प्राप्ति कठिन कार्य है। इसके लिये कड़ी तपस्या करनी पड़ती है। यज्ञ की वेदी के ऊपर स्वार्थत्याग की आहुति देनी पड़ती है। इस कार्य में बड़ी बड़ी बाधाएँ आती हैं। कई बार रास्ते में ठोकरें खाकर गिरना पड़ता है, पर इनसे हमें नये नये अनुभव प्राप्त होते हैं और उन अनुभवों का प्रकाश हमारे मार्ग को सुलभ कर देता है। रवीन्द्रनाथ यह दिव्य आशा प्रगट करते हैं कि भारत अवश्य उठेगा—उसकी आत्मशक्ति अवश्य प्रकाशित होगी, क्योंकि भारत की आत्मा मर नहीं गई है। हाँ, वह सोई हुई अवश्य है। भारत के हृदय की धड़कन बिलकुल बन्द नहीं गई है—केवल उसकी चाल धीमी

हो गई है। भारत की आत्मा में अब भी आध्यात्मिक संपत्ति का एक बड़ा अंश पाया जाता है और इसी कारण से भारत की सभ्यता सैकड़ों हमलों की कठोरता सहते हुए भी अब तक जीवित है। मतलब यह है कि हमारी राष्ट्रीयता और हमारी उन्नति का आधार आत्मा से प्रेरित हमारी पौर्वात्य सभ्यता होनी चाहिये; हमें परकीय सभ्यता का अनुकरण न कर उसमें के अच्छे तत्वों को अपनी सभ्यता में मिला लेना चाहिये।

पाँचवाँ अध्याय ।

कविसम्राट रवीन्द्रनाथ के शिक्षा-सम्बन्धी विचार ।

इन अध्यायों के पढ़ने से पाठकों को यह भलीभाँति ज्ञात हो गया होगा कि रवीन्द्रनाथ के आदर्श विशुद्ध भारतीय हैं। आत्मा के विकास की ओर ही उनका विशेष लक्ष्य है। उनके इन्हीं आदर्शों की झलक उनके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों में भी दिखलाई देती है। उनका मत है कि हमारे चारों ओर फैले हुए जड़वाद के क्षुद्र आदर्शों के अनिष्ट प्रभाव से बचने के लिये हमें अपनी शिक्षा का आदर्श बदलना चाहिये। आजकल हमें जो शिक्षा दी जाती है, वह वास्तविक शिक्षा नहीं है, उसमें आत्मा की उन्नति के लिये बहुत कम सामग्री है। हम पश्चिम की शिक्षापद्धति का अन्धानुकरण करते हैं। इसने हमारे मन को गुलाम बना रखा है। इसने हमें जड़वाद के जंजाल में जकड़ने की कोशिश की है। हम लोग आत्मा को भूलते जा रहे हैं। उच्चतम आत्मिक आदर्शों से हम दूर होते चले हैं। [illegible],

पीने और मौज उड़ाने " को ही हम जीवन का उद्देश्य समझने लगे हैं। पूर्वजों के प्रति हमारी भक्ति घटती जाती है इस प्रकार इस शिक्षापद्धति में लाभों की अपेक्षा हमें हानि ही विशेष हुई है।

इस अवस्था का कारण यह है कि हमें जो शिक्षा दी जाती है उसमें आध्यात्मिकता का प्राय अभाव रहता है, व हमारे जीवन के अनुकूल नहीं। हमारी पाठशालाएँ हमारा आत्मविकास करने के बदले शिक्षा देने की कलें हैं और शिक्षक-गण इन कलों के पुर्जे हैं। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि—

" हम पाठशालाओं को एक प्रकार की शिक्षा देनेवाले कारखाने समझते हैं। शिक्षकगण इन कारखानों के एक तरह के पुर्जे हैं। साढ़े दस बजे घण्टा बजने पर ये कारखाने खुलते हैं कलों का चलना आरम्भ हो जाता है, शिक्षक-रूपी पुर्जे भी अपने मुँह खोल देते हैं। तब विद्यार्थी इन पुर्जों की काटी छाँटी हुई दो चार पन्नों की विद्या लेकर अपने घर लौट आते है। इसके बाद परीक्षा के समय इस विद्या की जाँच होती है और उसपर मूल्य लगा दिये जाते हैं। कलों या मशीनों में एक बड़ी भारी खूबी यह रहती है कि जिस माप की और जिस ढंग की चीज की फर्मायश की जाती है, ठीक उसी माप और ढंग की चीज तैयार हो जाती है। एक कारखा

में तैयार की हुई सामग्री में और दूसरे कारखाने में तैयार की हुई सामग्री में अधिक अन्तर नहीं रहता और इससे मूल्य लगाने में बड़ा सुभीता होता है। किन्तु एक मनुष्य के साथ दूसरे मनुष्य का मिलान नहीं हो सकता—दोनों में बड़ा अन्तर रहता है। यहाँतक कि एक ही मनुष्य के एक दिन के साथ उसीके दूसरे दिन की समानता नहीं देखी जाती। इसके सिवा मनुष्य जो कुछ मनुष्य के पास से पा सकता है, वह कल-पुर्जे के पास से नहीं पा सकता। कल-पुर्जा किसी वस्तु को सामने तो उपस्थित कर देता है, पर दान नहीं कर सकता। वह तेल तो दे सकता है, परन्तु चिराग जला देना उसकी शक्ति से बाहर है।

"यूरोप की दशा हमारे देश से भिन्न है। वहाँ मनुष्य समाज के भीतर रहकर मनुष्य बनता है, पाठशालाएँ उसे थोड़ी सी सहायता भर देती हैं। वहाँ के लोग जो विद्या पाते हैं, वह वहाँ के मनुष्य-समाज से अलग नहीं रहती—वहीं उसकी चर्चा होती है और वहीं उसका विकास होता है। समाज के बीच उसका सञ्चार नाना आकारों और नाना भावों से होता रहता है। लिखने-पढ़ने में, बातचीत में और कामकाज में वह निरन्तर प्रत्यक्ष हुआ करती है। वहाँ जन-समाज ने जो कुछ समय समय पर भिन्नभिन्न घटनाओं और भिन्नभिन्न व्यक्तियों के द्वारा पाया है तथा संचय कर अपना भोग्य

बनाया है वहाँ का कहीं भी तत्त्व विद्यालयों के भीतर बालकोंको प्रदान किया जाता है। विद्यालयों में इससे अधिक और कुछ नहीं किया जाता। इसीलिये वहाँ के विद्यालय समाज के साथ मिले हुए हैं। समाज की मिट्टी में से ही रस खींचते हैं और समाज को ही फल दान देते हैं। किन्तु जहाँ विद्यालय चारों तरफ, चारों ओर के समाज के साथ इस तरह एक होकर नहीं मिल जाते और जहाँ वे समाज के ऊपर बाहर से मानो लिपटाये जाते हैं, वहाँ वे शुष्क और निर्जीव बने रहते हैं। हमारे यहाँ के विद्यालय ठीक इसी प्रकार के हैं। उनसे हम जो कुछ पाते हैं, वह कष्ट से पाते हैं और उस पाई हुई विद्या ऐसी होती है कि प्रयोग करने के समय कुछ काम नहीं देती। दस से लेकर चार बजे तक हम जो कुछ कण्ठस्थ करते हैं उसका हमारे जीवन के साथ, चारों ओर के मनुष्य-समाज के साथ और घर के साथ कोई मेल नहीं रहता। घरों में माँ-बाप, भाई-बन्धु जो कुछ बातचीत करते हैं और जिन विषयों की आलोचना करते हैं, हमारे विद्यालयों की शिक्षा के साथ उनका कोई मेल नहीं रहता, बल्कि बहुधा विरोध ही रहता है। ऐसी अवस्था में हमारे विद्यालय एक प्रकार के कल कारखाने कहे जा सकते हैं, जो वस्तुएँ तो जुटा सकते हैं, पर उनमें प्राण नहीं डाल सकते। हमें उनसे प्राणहीन विद्या मिलती है। इसीलिये कहा जाता है कि यूरोप के विद्यालयों की ज्यों की त्यों ऊपरी नकल कर लेने ही से ऐसा न समझ लेना चाहिये कि हमने वैसे ही

विद्यालय पा लिये, जैसे यूरोप में है। इस नकल में वैसी ही दर्जे, वैसी ही कुर्सियाँ, वैसी ही मेज-टबले और वैसी ही कार्य-प्रणालियाँ मिल सकती हैं। इनमें कोई अन्तर नहीं रह सकता। परन्तु हमारे लिये ये सब ऊपरी पदार्थ एक तरह के बोझ हैं।

"पूर्व काल में जब हम गुरुओं से शिक्षा पाते थे— शिक्षकों से नहीं और मनुष्यों से ज्ञान प्राप्त करते थे—कलों से नहीं, तब न तो हमारी शिक्षा के विषय इतने अधिक और विस्तृत थे और न उस समय हमारे समाज में जो भाव और मत प्रचलित थे उनके साथ हमारी पुस्तकीय शिक्षा का कोई विरोध ही था। यदि ठीक वैसा ही युग हम आज फिर लाना चाहें तो यह भी एक प्रकार की नकल होगी। उसका बाहरी आयोजन बोझ हो जायेगा।

"अतएव यदि हम अपनी वर्तमान आवश्यकताओं को अच्छी तरह समझते हों तो हमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये जिसमें विद्यालय हमारे घर का काम दे सके, पाठ्य-विषयों की विचित्रता के साथ अध्यापन की सजीवता मिल सके और पोथियों की शिक्षा देने का भार तथा हृदयों और मनों को गढ़ने का भार विद्यालय ग्रहण कर ले। हमें देखना होगा कि हमारे देश के विद्यालयों के साथ विद्यालयों के आसपास के जनसमाज का जो विच्छेद या विरोध है, उसमें छात्रों का

मन विक्षिप्त न हो जावे और इस प्रकार के विद्यालयों की शिक्षा केवल दिन में कुछ ही घण्टों के लिये हमसे स्वतन्त्र होकर, वास्तविकता से रहित, एक अत्यन्त कठिनाई से हज़म होनेवाली चीज़ न बन जावे।"

शिक्षा के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ने कई लेख लिखे हैं। यहाँ उन सब का सारांश दे सकना असम्भव है। रवीन्द्रनाथ के शिक्षा-सम्बन्धी भिन्नभिन्न विचारों का दिग्दर्शन कराने के लिये हमने उनके लेखों के कुछ अंशों को यहाँ प्रगट किया है। आशा है कि इनसे पाठकों को उनके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का कुछ ज्ञान हो जावेगा।

छठाँ अध्याय।

बालक और प्राकृतिक सौन्दर्य।

आजकल बहुत से लोगों में यह विचार ज़ोर पकड़ रहा है कि विद्यालय बच्चों के दिमाग में विद्या भर देनेवाले यंत्र नहीं हैं; इनका उद्देश उच्च होना चाहिये। इनसे बच्चे केवल विद्वान ही बनकर न निकलें, बल्कि साथ ही चरित्रवान बनकर भी निकलें। विद्यालयों में आन्तरिक शक्तियों का विकास होना चाहिये। वहाँ व्यावहारिक ज्ञान के साथ साथ वह शिक्षा भी दी जानी चाहिये जिससे मनुष्य की सौन्दर्य-परीक्षा-शक्ति का विकास हो। विद्यालय बच्चों को कैदखाने न मालूम होने चाहिये। वे ऐसे हों जहाँ बच्चों की आन्तरिक शक्तियों को विकसित होने का स्वतंत्र अवसर मिले। उन्हें प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य को और विश्व की अगाध लीलाओं को देखने का अवसर मिलना चाहिये। उनके आत्मिक आनन्द को बढ़ाने का प्रयत्न हरएक उपाय से करना चाहिये। रवीन्द्र-नाथ लिखते हैं—

"बालकों का हृदय जब नवीन रहता है, उनका कौतूहल जब सजीव रहता है और उनकी सारी इन्द्रियों की शक्ति जब प्रबल और उत्साहपूर्ण रहती है, तब उन्हें ऐसे खुले हुए आकाश में खेलने दो जहाँ मेघ और धूप खेलती रहती है। उन्हें इस पृथ्वी माता के आलिंगन से वञ्चित मत करो। सुन्दर और निर्मल प्रातःकाल के सूर्य को उनके प्रत्येक दिन का द्वार अपनी ज्योतिर्मय उंगलियों के द्वारा खोलने दो और सौम्य गम्भीर संध्या को उनका दिवावसान नक्षत्र-खचित अन्धकार में करने दो। वृक्ष और लताओं की शाखाओं और पल्लवों से सुशोभित नाटक-शाला में, छः अङ्कों में, छः ऋतुओं के नाना रसपूर्ण विचित्र नाटक का अभिनय उनके सामने होने दो। वे पेड़ों के नीचे खड़े होकर देखें कि नव वर्षा, युवराज-पद पर अभिषिक्त राजपुत्र के समान, अपने दल के दल सजल बादल लेकर आनन्द गर्जन करती हुई चिरकाल की प्यासी वनभूमि के ऊपर आसन्नवर्षा की छाया डाल रही है। शरद्काल में अन्नपूर्णा धरती की छाती पर ओस से सींची हुई, वायु से लहराती हुई, कई प्रकार के रंगों से चित्रित और चारों दिशाओं में फैली हुई खेतों की शोभा को अपनी आँखों से देखकर उन्हें धन्य होने दो। हे बालकों के रक्षक अभिभावक गण! तुम अपनी कल्पनावृत्ति को मनमानी निर्जीव और अपने हृदय को अत्यन्त कठोर भलेही बनालो. परन्तु ऐसा कभी मत कहना कि बच्चों को इनकी कुछ आवश्यकता नहीं

है। अपने बच्चों को इस विशाल विश्व में रहकर विश्वजननी के लीलास्पर्श का अनुभव करने दो। इस बात का अनुभव तुम्हें भले ही न हो कि इन्स्पेक्टरों के मुलाहिजों और परीक्षकों के प्रश्नपत्रों की अपेक्षा यह कितना अधिक उपयोगी है, परन्तु बालकों के कल्याण के लिये इसकी थोड़ी भी उपेक्षा मत करो।

"जिस समय मन बढ़ता रहता है उस समय उसके चारों ओर एक प्रकार की बड़ी भारी स्वतंत्रता रहनी चाहिए। यह स्वतंत्रता विश्व-प्रकृति में अत्यन्त विशाल भाव से, विचित्र भाव से और सुन्दरता से मौजूद है। साढ़े नौ और दस बजे के भीतर किसी तरह अन्न निगलकर शिक्षा देने की मृगशाला में पहुँच जाने और हाजिरी देने से बच्चों की प्रकृति स्वाभाविकता से कभी भी विकसित नहीं हो सकती। बड़े दुःख की बात है कि हमारी शिक्षा दीवालों से घेरकर, दरवाजों से रुद्ध कर, दरबान बिठाकर, दण्ड या सजा से कंटकित कर और घन्यनाद द्वारा सचेत कर बड़ी विलक्षण बना दी गई है! समझ में नहीं आता कि मानव-जीवन के आरम्भ में यह निरानन्द की सृष्टि क्यों की गई है! बीजगणित न सीखकर और इतिहास की तारीखें कण्ठ न करके बच्चे माता के गर्भ से जन्म लेते हैं, तो क्या ये बेचारे इसके लिये अपराधी हैं? मालूम होता है कि इसी अपराध के कारण इन अभागों से उनकी सारी स्वतंत्रता, आकाश, वायु और सारा आनन्द छीन लिया जाता है और

उनके लिये शिक्षा सब प्रकार से दण्ड-रूप बना दी जाती है। परन्तु ज़रा सोचो तो सही कि बच्चे अशिक्षित अवस्था में क्यों जन्म लेते हैं? हमारी समझ में तो वे न जानने से धीरे धीरे जानने का आनन्द पावें, इसीलिये अशिक्षित उत्पन्न होते हैं। हम अपनी असमर्थता और बर्बरता के वश यदि शिक्षा को आनन्दजनक न बना सकें, तो न सही, पर जान बूझकर, अतिशय निष्ठुरता-पूर्वक निरपराधी बच्चों के विद्यालयों को कारागार तो न बना डालें। बच्चों की शिक्षा को, प्रकृति की उदार और रमणीय स्वच्छन्दता में से, विकसित करना ही विधाता का उद्देश है। इस उद्देश को हम जितना ही बाधापूर्ण बनाते हैं, उतना ही अधिक वह असफल रह जाता है। मृगशाला की दीवालों को तोड़ डालो। मातृ-गर्भ के दस महीनों मे बच्चे पण्डित नहीं हुए, इस अपराध पर उन बेचारों को सपरिश्रम कारागार का दण्ड मत दो—उन पर दया करो।

"इसीमें हम कहते हैं कि शिक्षा के लिये इस समय भी हमे वनों की आवश्यकता है और हमें गुरुगृह भी चाहिये। व[illegible]रे सजीव निवासस्थान हैं, और गुरु हमारे सहृदय [illegible] आज भी हमें उन वनों में और गुरुगृहों में अपने ब्रह्मचर्यपूर्वक रखकर उनकी शिक्षा पूर्ण करनी [illegible] से हमारी अवस्थाओं में अधिक से अधिक

ही परिवर्तन क्यों न हुआ करे, परन्तु इस शिक्षा-नियम की उपयोगिता में कुछ भी त्रुटि नहीं आ सकती, क्योंकि यह नियम मानव-चरित्र के चिरस्थायी तत्व के ऊपर स्थापित किया गया है।

"अतएव यदि हम आदर्श विद्यालय स्थापित करना चाहें तो हमें मनुष्यों की बस्ती से दूर, निर्जन स्थान में, खुले हुए आकाश और विस्तृत भूमि पर सहृदय वृक्षों के बीच उनकी व्यवस्था करनी चाहिये। वहाँ अध्यापक गण एकान्त में, पठन-पाठन में नियुक्त रहेंगे और छात्रगण ज्ञानचर्चा के यज्ञक्षेत्र में ही बड़ा करेंगे।

"यदि हो सके तो इस विद्यालय के साथ थोड़ी सी उपजाऊ जमीन का भी प्रबन्ध कर देना चाहिये। इस जमीन से विद्यालय के लिये आवश्यक खाद्य-सामग्री का संग्रह किया जावेगा और छात्रगण खेती के काम में सहायता करेंगे। दूध, घी आदि के लिये गाय-भैंस रहेंगी और छात्रों को गो-पालन करना होगा। जिस समय बालक पढ़ने लिखने से छुट्टी पावेंगे, उस विश्राम-काल में वे अपने हाथ से बाग लगावेंगे, पेड़ों के चारों ओर पानी के लिये घेरे खोदेंगे, उनमें जल सींचेंगे और बाग की रक्षा के लिये रुन्धान लगावेंगे। इस तरह वे प्रकृति के साथ केवल भाव ही का नहीं, काम का सम्बन्ध भी जारी रक्खेंगे।

"अनुकूल ऋतुओं में बड़े बड़े छायादार वृक्षों के नीचे छात्रों की कक्षाएँ बैठेंगी। उनकी शिक्षा का कुछ अंश अध्यापकों के साथ वृक्षों के नीचे घूमने फिरने समय समाप्त होगा और सन्ध्या के अवकाश-काल को वे नक्षत्रों की पहिचान करने में, संगीत-चर्चा में, पुराण-कथाओं में और इतिहास की कहानियाँ सुनने में व्यतीत करेंगे।"

इन अवतरणों में रवीन्द्रनाथ ने आधुनिक शिक्षा-पद्धति की बुराइयों और निकम्मेपन को बतलाकर शिक्षा के उन्नत आदर्श को दिखलाया है। उन्होंने बतलाया है कि मानवी हृदय के विकास के लिये, उन्नतम सभ्यता के प्रकाश के लिये और दैवी गुणों की उत्पत्ति के लिये किस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली से थोड़े से लाभ अवश्य हुए हैं, पर उससे जो हानि हुई है वह भीषण है। उसने हमारे जीवन के उन्नतम आदर्श पर परदा डाल दिया है। उसने हमें जड़वाद की ओर झुकाया है। विश्व-व्यापी प्रेम, मानवी सहानुभूति, विश्व-बंधुत्व आदि दिव्य गुणों के बदले उसने हमें खाने, पीने और मौज उड़ाने की ओर झुकाया है। आधुनिक शिक्षा प्राप्त करनेवाले लोग सासारिक भोग-विलासों में फँसे हुए रहते हैं। सांसारिक क्षणिक आनंद के परे जो आनंद रहता है उससे वे अपरिचित रहते हैं। ये नही-छाया मात्र होते हैं। किसी न किसी प्रकार

पाश्चिमात्य लोगों का अनुकरण करना इनके जीवन का ध्येय रहता है। इनका जीवन कला-विहीन और आत्मा सङ्गीत-विहीन होती है। सारांश यह है कि पाश्चिमात्य शिक्षा ने भारतीय व्यक्तित्व पर बड़ा शोचनीय कुठाराघात किया है। पाश्चिमात्य शिक्षा के सम्बन्ध में डाक्टर कुमारस्वामी कहते हैं कि इसने कला-कौशल्य को अजायब-घर में रख दिया है। आधुनिक भारत की उन्नति आत्मा में नहीं दिखलाई देती है, वह सरकारी रिपोर्टों में दिखलाई देती है। शिक्षित भारतवासी पाश्चात्यों की नकल कर भारत के आत्मिक भावों को भुला रहे हैं।

आजकल का शिक्षित भारतवासी मानव-जाति-रूपी वृक्ष की उस कटी हुई पींड़ की तरह है, जिसकी जड़ नहीं है। आजकल हम लोग यह भूल गये हैं कि सच्ची शिक्षा का विकास मानवी हृदय के भीतर से होना चाहिये। पाश्चिमात्य शिक्षा से रँगे हुए भारतवासी की स्थिति इस तरह की हो गई है मानो उसका भारत के आध्यात्मिक भूतकाल से कोई सम्बन्ध नहीं है। रवीन्द्रनाथ के कथनानुसार आजकल की पाठशालाएँ कारखानों की तरह हैं। इनमें सब एक-समान पीसे जाते हैं। मानवी मन की विविधता पर इनमें कुछ ध्यान नहीं दिया जाता। मानवी आत्मा के विकास के लिये तथा उदार विचारों की उन्नति के लिये इनमें विशेष गुंजाइश

चित हमारा जीवन उस सुधापूर्ण जल से विहीन न हो जावे जिसने हमारी सभ्यता को सौन्दर्य और शक्ति की समृद्धि में बड़ी उपजाऊ बना रखा था।" रवीन्द्रनाथ की आकांक्षा है कि हमारे प्राचीन आदर्श की आत्मा का पुनरुज्जीवन होना चाहिये। हमारी शिक्षापद्धति में वे बातें अवश्य होनी चाहिये, जिनसे हमारी आत्मा का सुधार हो। उनका कार्यक्षेत्र बुद्धि के विराम तक ही परिमित न होना चाहिये। "सर्वोत्कृष्ट शिक्षा-पद्धति वह नहीं है जिससे हमें केवल जानकारी प्राप्त होती रहे, बल्कि वह है जो हमारे जीवन का अनन्त से संयोग करा दे। शिक्षा का उद्देश मनुष्य को सत्य की एकता बतलाना है। प्राचीनकाल में जब जीवन बिलकुल सीधासादा था उस समय मनुष्य के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में एकता थी। पर जब आध्यात्मिक तत्त्व से बुद्धि-तत्त्व के भिन्न होने का अवसर आया, तब स्कूली शिक्षा ने केवल बौद्धिक और आधि-भौतिक शिक्षा ही पर जोर डाला। बच्चों के मन में किसी बात की जानकारी ठूँस ठूँसकर भर देने ही को हम शिक्षा का अन्तिम उद्देश समझने लगे। फलत: हमारे बौद्धिक जीवन और आत्मिक जीवन के बीच एक जबरदस्त दीवाल खड़ी हो गई।" अब प्रश्न यह उठता है कि यह दीवाल कैसे तोड़ी जा सकती है। आध्यात्मिक जीवन का प्रकाश फिर कैसे चमक सकता है? यह बात ईश्वर का और उसके अस्तित्व का थोथा ज्ञान प्राप्त कर लेने से सिद्ध नहीं हो सकती। यह प्रकाश

नहीं है। आजकल की शिक्षा ने हमारे मन को यंत्र के तुल्य बना दिया है। परीक्षाओं ने तो और भी गंवार किया है। आजकल की शिक्षा-पद्धति में ज्ञानप्राप्ति पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता, जितना मार्कों—गुणों—की प्राप्ति पर दिया जाता है। ज्यों त्यों कर अधिक गुण पाकर परीक्षा पास करना ही विद्यार्थी का प्रधान उद्देश रहता है। भारत के प्राचीन साहित्य में जो आध्यात्मिक प्रकाश भरा हुआ है, उसका दिग्दर्शन भी हमारी आधुनिक शिक्षा-पद्धति में नहीं कराया जाता। हमारी जाति ने आध्यात्मिक क्षेत्र में जो अपूर्व सफलताएँ प्राप्त की हैं, उनके इतिहास से हम अपरिचित रखे जाते हैं। यह स्पष्ट है कि हमारा भारतीय साहित्य जिस प्रकार हमारी शक्तियों को प्रकाशित कर सकता है, हमारी आध्यात्मिक आकांक्षाओं को प्रज्वलित कर सकता है और जिस प्रकार हमारी आत्मा को निर्मल बना सकता है, उस तरह से कोई दूसरा साधन नहीं बना सकता। भारतीय मन को तथा भारतीय विचार-शक्ति को भारतवासियों का प्राचीन साहित्य जितनी उत्तेजना पहुँचा सकता है, उतनी और कोई साहित्य नहीं पहुँचा सकता। कितने दुःख की बात है कि हम लोग अपने प्राचीन साहित्य से अनभिज्ञ रखे जाते हैं! हमारे बच्चे भारत के प्रकाशमय भूतकाल को भूल रहे हैं, वे अपनी असली प्रकृति का विस्मरण कर रहे हैं। यदि यही वर्तमान शिक्षा-पद्धति जारी रही तो भारतमाता के सच्चे सपूत रवीन्द्रनाथ को भय है कि "वदा-

चित हमारा जीवन उस सुधापूर्ण जल से विहीन न हो जावे जिसने हमारी सभ्यता को सौन्दर्य और शक्ति की समृद्धि में बड़ी उपजाऊ बना रक्खा था।" रवीन्द्रनाथ की आकांक्षा है कि हमारे प्राचीन आदर्श की आत्मा का पुनरुज्जीवन होना चाहिये। हमारी शिक्षापद्धति में वे बातें अवश्य होनी चाहिये, जिनसे हमारी आत्मा का सुधार हो। उसका कार्यक्षेत्र बुद्धि के विराम तक ही परिमित न होना चाहिये। "सर्वोत्कृष्ट शिक्षा-पद्धति वह नहीं है जिससे हमें केवल जानकारी प्राप्त होती रहे, बल्कि वह है जो हमारे जीवन का अनन्त से संयोग करा दे। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सत्य की एकता बतलाना है। प्राचीनकाल में जब जीवन बिलकुल सीधासादा था उस समय मनुष्य के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में एकता थी। पर जब आध्यात्मिक तत्त्व से बुद्धि-तत्त्व के भिन्न होने का अवसर आया, तब स्कूली शिक्षा ने केवल बौद्धिक और आधि-भौतिक शिक्षा ही पर जोर डाला। बच्चों के मन में किसी बात की जानकारी ठूँस ठूँसकर भर देने ही को हम शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य समझने लगे। फलतः हमारे बौद्धिक जीवन और आत्मिक जीवन के बीच एक जबरदस्त दीवाल खड़ी हो गई।" अब प्रश्न यह उठता है कि यह दीवाल कैसे तोड़ी जा सकती है। आध्यात्मिक जीवन का प्रकाश फिर कैसे चमक सकता है? यह बात ईश्वर का और उसके अस्तित्व का थोथा ज्ञान प्राप्त कर लेने से सिद्ध नहीं हो सकती। यह प्रकाश

प्रार्थना के पद गाकर या मन्दिर में जाने से प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिये तो आत्मा की उन्नति का मार्ग खुला हुआ होना चाहिये। हमारे विद्यार्थियों को ऐसे वातावरण में रहना चाहिये जो परम शान्त हो और जहाँ आत्मा के लिये अनंत से एक हो जाने की अधिक संभावना और संयोग हो। "हमको आत्म-अभिमान के साथ हमें यह अनुभव होने के लिये कि हम ईश्वर ही में निवास कर रहे हैं", रवीन्द्रनाथ प्राचीन आदर्श के आश्रमों को अधिक पसन्द करते हैं। प्राचीन भारतवर्ष में इस प्रकार के आश्रम थे जो घर, विद्यालय, मन्दिर आदि सब का काम देते थे। ये आश्रम ऐसे परम रमणीय और शान्त स्थानों में बनाये जाते थे, जहाँ मनुष्य की आध्यात्मिक वृत्ति को स्वाभाविक स्फूर्ति मिले। इन आश्रमों में जो आचार्य तथा गुरु रहते थे वे वातावरण में उस परम ज्योति-मय परमात्मा के दर्शन का आत्मिक अनुभव करते थे। विद्यार्थियों पर भी उनका बड़ा ही दिव्य प्रभाव पड़ता था। विद्यार्थियों का जीवन भी आत्मिक हो जाता था और वे ईश्वरी ज्योति के दिव्य दर्शन का आनंद-लाभ करते थे। भारतवर्ष में शिक्षा का आदर्श उस दिव्य दृष्टि का विकास करना है जिससे यह आत्मा पूर्णता और मुक्ति प्राप्त करे। इसी आदर्श को रवीन्द्रनाथ सर्वश्रेष्ठ और मानव-जाति के लिये परम हितकर समझते हैं। इसी आदर्श शिक्षा-पद्धति को वे आत्मानंद का साधन मानते हैं। आपने बोलपुर में

जो शान्तिनिकेतन स्थापित किया है, उसका ढाँचा इसी आदर्श की नींव पर है। यह स्कूल केवल संस्कृति का स्कूल नहीं है, पर पवित्रता का आवासस्थल भी है। उसे हम आदर्श विद्यालय क्यों कह सकते हैं, इसका कारण जानने के लिये रवीन्द्रनाथ के नीचे लिखे हुए विचारों पर दृष्टिपात करना होगा—

"आदर्श विद्यालय ऐसा आश्रम होना चाहिये जहाँ मनुष्य प्रकृति की शान्ति में जीवन के सर्वोच्च उद्देशों की सिद्धि के लिये इकट्ठे हों और जहाँ जीवन केवल ध्यान-मय ही न हो, बल्कि साथसाथ वक्तृत्वशील भी हो, जहाँ वे इस बात का अनुभव करें कि यह मानवी समाज ईश्वर का साम्राज्य है और इसकी नागरिकता के लिये वे हृदय से लालायित हैं। इस विश्व में उगते हुए तथा अस्त होते हुए सूर्य की तथा तारागण की शान्त प्रभा उपेक्षणीय नहीं है। इस आश्रम में फूलों और फलों के जो नैसर्गिक उत्सव होते हैं उन्हें मनुष्य को जानना चाहिये। यहाँ वृद्ध और जवान, अध्यापक और विद्यार्थी, सबको एक साथ बैठकर अपना नित्य का भोजन तथा अपनी अनन्त आत्मा का भोजन संग्रह करना चाहिये।"

रवीन्द्र के शिक्षासंबंधी विचार अनंत हैं, परन्तु विस्तारभय से उन पर अधिक न लिखकर हम यहाँ उनके उस नोट का हिन्दी-अनुवाद देते हैं जिसे उन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध में

प्रार्थना के पद याद कर मन्दिर में गाने से प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिये तो आत्मा की उन्नति का मार्ग खुला हुआ होना चाहिये। हमारे विद्यार्थियों को ऐसे वातावरण में रहना चाहिये जो परम शान्त हो और जहाँ आत्मा के लिये अनंत में एक हो जाने की अधिक संभावना और संयोग हो। "हरएक श्वास-प्रतिश्वास के साथ हमें यह अनुभव होने के लिये कि हम ईश्वर ही में निवास कर रहे हैं", रवीन्द्रनाथ प्राचीन आदर्श के आश्रमों को अधिक पसन्द करते हैं। प्राचीन भारतवर्ष में इस प्रकार के आश्रम थे जो घर, विद्यालय, मन्दिर आदि सब का काम देते थे। ये आश्रम ऐसे परम रमणीय और शान्त स्थानों में बनाये जाते थे, जहाँ मनुष्य की आध्यात्मिक वृत्ति को स्वाभाविक स्फूर्ति मिले। इन आश्रमों में जो आचार्य तथा गुरु रहते थे वे कणकण में उस परम ज्योति-मय परमात्मा के दर्शन का आत्मिक अनुभव करते थे। विद्यार्थियों पर भी उनका बड़ा ही दिव्य प्रभाव पड़ता था। विद्यार्थियों का जीवन भी आत्मिक हो जाता था और वे ईश्वरी ज्योति के दिव्य दर्शन का आनंद-लाभ करते थे। भारतवर्ष में शिक्षा का आदर्श उस दिव्य दृष्टि का विकास करना है जिससे यह आत्मा पूर्णता और मुक्ति प्राप्त करे। इसी आदर्श को रवीन्द्रनाथ सर्वश्रेष्ठ और मानव—जाति के लिये परम हितकर समझते हैं। इसी आदर्श शिक्षा—पद्धति को वे आत्मानंद का साधन मानते हैं। आपने बोलपुर में

जो शान्तिनिकेतन स्थापित किया है, उसका ढाँचा इसी आदर्श की नींव पर है। यह स्कूल केवल संस्कृति का स्कूल नहीं है, पर पवित्रता का आवासस्थल भी है। उसे हम आदर्श विद्यालय क्यों कह सकते हैं, इसका कारण जानने के लिये रवीन्द्रनाथ के नीचे लिखे हुए विचारों पर दृष्टिपात करना होगा—

"आदर्श विद्यालय ऐसा आश्रम होना चाहिये जहाँ मनुष्य प्रकृति की शान्ति में जीवन के सर्वोच्च उद्देशों की सिद्धि के लिये इकट्ठे हों और जहाँ जीवन केवल ध्यान-मय ही न हो, बल्कि साथसाथ कर्तृत्वशील भी हो, जहाँ वे इस बात का अनुभव करें कि यह मानवी संसार ईश्वर का साम्राज्य है और इसकी नागरिकता के लिये वे हृदय से लालायित हैं। इस विश्व में उगते हुए तथा अस्त होते हुए सूर्य की तथा तारागण की शान्त प्रभा उपेक्षणीय नहीं है। इस आश्रम में फूलों और फलों के जो नैसर्गिक उत्सव होते हैं उन्हें मनुष्य को जानना चाहिये। यहाँ बूढ़े और जवान, अध्यापक और विद्यार्थी, सबको एक साथ बैठकर अपना नित्य का भोजन तथा अपनी अनन्त आत्मा का भोजन संग्रह करना चाहिये।"

रवीन्द्र के शिक्षासंबंधी विचार अनंत हैं, परन्तु विस्तारभय से उन पर अधिक न लिखकर हम यहाँ उनके उस नोट का हिन्दी-अनुवाद देते हैं जिसे उन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध में

अभी थोड़े दिनों के पहिले "प्रवासी" में प्रकाशित कराया था। वे लिखते हैं—

"मानव-संसार में ज्ञानप्रकाश का दीपोत्सव हो रहा है। यदि प्रत्येक जाति अपने अपने दीपक को बड़ा करके जलावे तो सबका प्रकाश मिलने से यह उत्सव सानन्द समाप्त हो जायेगा। यदि कोई जाति अपने विशेष दीपक को अलग ही जलाना चाहे और अपने ज्ञान-प्रकाश को अलग ही फैलाना चाहे तो यह असंभव बात है। इसी प्रकार यदि किसी जाति के विशेष दीपक को देखकर कोई अपने जी में जले और उसे बुझाने की कोशिश करे, तो यह संसार के हित की दृष्टि से बहुत बुरी बात है। इससे उसी जाति का अस्तित्व-लोप नहीं होता, बल्कि सारे जगत की क्षति होती है।

यह बात प्रमाणित हो गई है कि भारतवर्ष अपनी इच्छा-शक्ति को लगाकर विश्व की समस्या का गंभीर भाव से विचार कर रहा है और अपनी समझ के अनुसार उसके हल करने की चेष्टा भी कर रहा है। अब उसको मालूम हो गया है कि हमारे यहाँ की शिक्षा का ढंग और ही तरह का होना चाहिये। बात भी यही है। हमारे देश के लिये वही शिक्षा सच्ची शिक्षा हो सकती है जो भारतीय मन को सत्य ग्रहण करने में और सत्य को अपनी शक्ति के द्वारा प्रकाश करने में समर्थ बनावे। आजकल की शिक्षा हमारे लिये किसी तरह

उपयोगी नहीं है। यह तो पुनरावृत्ति करने की शिक्षा है, मन की शिक्षा नहीं है। यह शिक्षा कलों से भी दी जा सकती है।

जिस समय भारतवर्ष ने लौकिक तथा पारलौकिक विषयों पर अपनी पूर्ण शक्ति से मनन किया था, उस समय इसका मन एक था। अब वह बात नहीं है। अब तो इसका मन विभक्त हो गया है। अब भारतवृक्ष की बड़ी बड़ी शाखाएँ एक-ही स्थान मे फलकर फल-उत्पादन करना भूल गई हैं। इसके अंग-प्रत्यंग में चेतना-सूत्र की एकता का अभाव हो गया है और इसीलिये इसके समस्त शरीर में रोग लग गया है। हम देखते हैं कि भारत का जो मन एक सूत्र मे बँधा हुआ था, वह आज हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिक्ख, मुसलमान, ईसाई आदि श्रेणियों में बँट गया है। भला इस दशा मे वह कुछ सार ग्रहण करने, दान करने और अपने सारे शरीर को भारतवर्ष की उन्नति के लिये लगा देने मे कैसे समर्थ हो सकता है? जिस समय अंजलि दी जाती है उस समय दसों अँगुलियों को मिलाना पड़ता है। अंजलि देते समय भी इसकी आवश्यकता है और लेते समय भी। इसी प्रकार भारत की शिक्षा-व्यवस्था में वैदिक, पौराणिक, बौद्ध, जैन, मुसलमान आदि सब के चित्त को मिलाना और लोगों के मन को भुला सकनेवाले पुरुषों को इकट्ठे करना होगा और यह जानना होगा कि भारत का मन कई धाराओं में किस तरह बह रहा है। ऐसा करने पर ही भारतवर्ष अपनी उन्नति कर सकेगा और इसी उपाय से

अपने नई विभागों में पहुँचकर अपनी सफलता प्राप्त कर सकेगा। यदि ऐसा नहीं किया जायेगा और अपने को विभागों में मिलाने का अभ्यास न किया जायेगा, तो उसे भिक्षा ग्रहण करनी पड़ेगी। और जब यह देश भिक्षुक बन जायेगा, तब भिक्षा से जीनेवाले देश की कोई जाति कभी सम्पद्-शाली नहीं हो सकेगी।

आगे चलकर आप कहते हैं कि शिक्षा का असली क्षेत्र वही है जहाँ विद्या की उत्पत्ति होती हो। विश्वविद्यालयों का मुख्य काम विद्या का उत्पादन करना है और जब उत्पादन-कार्य समाप्त हो जाये, तब उसका गौण कार्य यह है कि वह उस विद्या का दान करे। इस काम के लिये विद्या के क्षेत्रों में उन सब विद्वानों को बुलाना पड़ेगा जो अपनी शक्ति और साधना से अनुसंधान, आविष्कार और सृष्टि के कार्यों में लगे हुए हैं। ये विद्वान अपने अपने कार्य में जहाँ इकट्ठे होंगे, वहाँ स्वभावतः ज्ञान की धारा बह निकलेगी और उसी ज्ञानधारा की नदी के तट पर देश के सच्चे विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा होगी। अब विदेशी विश्वविद्यालयों की नकल करने से काम नहीं चल सकेगा।

फिर आप कहते हैं कि सब देशों में शिक्षा के साथ देश की सर्वाङ्ग जीवनयात्रा का योग होता है। हमारे देश को ही ले लीजिये। यहाँ मुंशीगिरी, वकालत, डाक्टरी, डिप्टीगिरी, मुन्सि-

की आदि भद्र समाज में प्रचलित व्यवसायों के साथ हमारी आधुनिक शिक्षा का कितना प्रत्यक्ष योग है। परन्तु विचार करने की बात है कि जहाँ खेती होती है, तेलियों की घानी चलती है और कुम्हार का चाक घूमता है, वहाँ इस शिक्षा का कोई स्पर्श भी नहीं पहुँच पाता। भला जब ऐसी बात है, तब हमें इस शिक्षा से लाभ ही क्या ! क्योंकि हमें तो छोटे से लगाकर बड़े तक को शिक्षित बनाना है और अपना पूर्व गौरव प्राप्त करना है। यदि आप अन्य देशों पर दृष्टि डालेंगे, तो आपको मालूम होगा कि किसी शिक्षित देश में ऐसा कुयोग नहीं है। इसकी जड़ तो केवल हमारे देश ही में जमी हुई है। इसका एक कारण भी है और वह यह है कि हमारे नूतन विश्वविद्यालय देश की जमीन के ऊपर नहीं है, बल्कि वे परदेशी वनस्पति की शाखा में झूल रहे हैं। "देखादेखी साधे योग, छीजे काया बाढ़े रोग" की कहावत यहाँ के नूतन विश्व-विद्यालयों के लिये पूरी पूरी चरितार्थ होती है। परन्तु अब हमें अपना सच्चा विद्यालय स्थापित करना होगा और जब यह सच्चा विद्यालय स्थापित हो जावेगा तब प्रारम्भ से ही वह अपने अर्थ-शास्त्र, अपने कृषितत्त्व, अपनी स्वास्थ्य-विद्या और अपने समस्त व्यावहारिक विज्ञान को अपने प्रतिष्ठास्थान के चारों ओर ग्रामों में फैलावेगा और गाँवों ही में इनका प्रयोग करने से देश की जीवनयात्रा का केन्द्रस्थल बन सकेगा। यह विद्यालय उत्कृष्ट विद्यालय होगा और उत्कृष्ट आदर्श रखकर

सातवाँ अध्याय।

रवीन्द्रनाथ के राजनैतिक विचार।

कविवर रवीन्द्रनाथ महोदय ने साहित्यिक, सामाजिक तथा अन्य कई क्षेत्रों में जिस प्रकार अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया है, वैसे ही राजनैतिक संसार में भी उन्होंने अपने गम्भीर और तात्विक विचारों का प्रकाश डाला है। यद्यपि राजनैतिक संसार में अन्य व्यक्तियों की तरह आप विशेष रूप से साम्हने नहीं आये हैं तथापि राजनीति की आत्मा को जितनी उत्तमता से आप जानते हैं, उस तरह उसे बहुत ही कम आदमी जानते होंगे। आपने भारतीय राजनीति के तत्व को—उसकी त्याग आत्मा को—जान लिया है। आपके जो थोड़े से राजनैतिक लेख प्रकाशित हुए हैं, उनसे इस बात की सत्यता अच्छी तरह से प्रगट होती है। रवीन्द्र का मत है कि राजनीति की नींव आत्म-त्याग और विश्वव्यापी प्रेम पर डाली जानी चाहिये। आजकल सभ्य कहलानेवाले लोगों संसार में राजनीति के नाम से जो कुटिलता की जाती

विशिष्ट मानव समूहों से और अखिल मानव जाति में है। इस तत्व को हमारी हिन्दू राजनीति ने अच्छी तरह से समझ लिया था और इसीसे अपने अच्छे दिनों में भी भारत ने दूसरे देशों को हड़प लेने की चेष्टा नहीं की। उसने दूसरे राष्ट्र पर केवल राज्य-तृष्णा से कभी हमला नहीं किया। उसने हमेशा "उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्" के महान तत्व को अपने सामने रखा। उसने अन्य राष्ट्रों से प्रेम किया, उन्हें ज्ञान दान दिया, अपनी विशुद्ध सभ्यता के प्रकाश से उन्हें आलोकित किया और इस तरह से अस्तित्व की दौड़ में उन्हें सहायता दी। अर्थात् भारत की राजनीति ने आत्मिक ऐक्य और विश्वबंधुत्व के सिद्धान्त को सदा अपने सामने रखा। इसीसे यह राजनीति विशुद्ध और आत्मिक कही जा सकती है। कविसम्राट रवीन्द्र भी, महात्मा गांधी की तरह, इस प्रकार की उदार राजनीति को मानव-समाज के लिये हितकर समझते हैं। कविवर ने अपने लेखों में कई बार इस बात को बड़े जोर से कहा है कि जब तक संसार में आत्मिक ऐक्य न होगा और राष्ट्रों में परस्पर बंधुत्व का भाव सच्चे दिल से न उठेगा, तब तक स्थायी शान्ति न हो सकेगी और संसार पर भीषण आपदाएँ आती रहेंगी। अतएव संसार के कल्याण के लिये—मानव जाति के हित के लिये—रवीन्द्रनाथ राजनीति की नींव जड़ शक्ति पर नहीं, बल्कि आत्मशक्ति पर डालना चाहते हैं।

महात्मा गान्धी ने एक बार कहा था कि हमारा स्वराज्य पाश्चिमात्य स्वराज्य से भिन्न होगा। पाश्चात्य स्वराज्य का पाया जड़ शक्ति पर है, हमारे स्वराज्य का पाया आत्मिक शक्ति पर होना चाहिये। रवीन्द्रनाथ का भी यही मत है। वे पाश्चात्य राजनैतिक संस्थाओं की नकल नहीं करना चाहते। वे यहाँ ऐसी राजनैतिक संस्थाएँ चाहते हैं जिनका पाया आत्मा पर खड़ा किया गया हो। इस सम्बन्ध में जहाँ तक हमें मालूम है, कर्मवीर गान्धीजी और कविवर रवीन्द्र एकमत हैं। यही नहीं, रवीन्द्र तो बड़े जोर से यह प्रतिपादित करते हैं कि जब इन्हीं विशुद्ध तत्वों पर राजनीति की नींव खड़ी की जावेगी, तभी संसार में स्थायी शान्ति और मानव जाति को कुछ स्थायी सुख मिल सकेगा।

आठवाँ अध्याय।

सर रवीन्द्र और भारतीय स्वराज्य।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रतिभाशाली मूर्ति कांग्रेस के मंच पर बहुत कम देखी गई है। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि वे देश की राजनैतिक आकांक्षाओं से अपरिचित हैं। रवीन्द्रनाथ ने कभी कभी अपने राजनैतिक विचार प्रकाशित किये हैं, जिनसे पता चलता है कि उन्होंने भारतीय स्वराज्य की आत्मा को जितनी अच्छी तरह से समझा है, उतनी उत्तमता से कदाचित् ही किसी अन्य नेता ने समझा हो। गत अध्यायों को पढ़ने से पाठकों को यह अनुमान हुए बिना न रहेगा कि रवीन्द्रनाथ संसार में आध्यात्मिक दृष्टि लाना चाहते हैं। आप उस जड़वाद के पर्दे को हटाना चाहते हैं, जो इस समय संसार की आँखों पर पड़ा हुआ है। आपका मत है कि हमारे स्वराज्य का पाया जड़वाद पर नहीं, किन्तु आत्मा पर डाला जाना चाहिये। पश्चिम का अनुकरण न कर हमें अपने आत्मिक आदर्श के अनुसार स्वराज्य स्थापित करना चाहिये। रवीन्द्रनाथ किसी क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति के लिये अथवा देश

की जड़ समृद्धि बढ़ाने के लिये स्वराज्य नहीं चाहते; किन्तु आत्मा की उन्नति के समुचित मार्ग मिलने के लिये वे स्वराज्य की आकांक्षा करते हैं। रवीन्द्रनाथ ने "स्वराज्य" के सम्बन्ध में बड़े उत्तम भाव प्रकाशित किये हैं। यहाँ उनके विचारों का एक अंश दिया जाता है—

"परन्तु हमको इससे भी एक बड़ी बात बतलानी है और वह यह है कि स्वराज्य से केवल सुव्यवस्था और जिम्मेदारी ही का भाव उत्पन्न नहीं होता, बल्कि आत्मा भी उच्च होती है। जिनकी आत्मा केवल गाँव अथवा छोटे सामाजिक विभाग में बद्ध है वे मनुष्य को एक बड़ी परिधि में उसी समय देख सकेंगे, जब उनको स्वराज्य दे दिया जावेगा। इसके बिना उस देश का प्रत्येक मनुष्य मनुष्यता की दृष्टि से छोटा गिना जावेगा। उसके सारे विचार, शक्तियाँ तथा आशाएँ सभी छोटी रहेंगी और मनुष्य की आत्मा का यह छोटापन उसके प्राणनाश से भी अधिक अमङ्गलकारी है। अतएव भूलचूक की आशङ्का और गलतियाँ होने की सम्भावना रहते हुए भी हमें स्वराज्य मिलना चाहिये। हम गिरते पड़ते आगे बढ़ेंगे, किन्तु ईश्वर के लिये हमारे गिरने पड़ने पर दृष्टि रखकर हमारा आगे बढ़ने का रास्ता बन्द मत करो। हमारा यह उत्तर एकमात्र सत्य उत्तर है।"

इस अवतरण से पाठकों को मालूम हुआ होगा कि रवीन्द्र-नाथ स्वराज्य को आत्मिक विकास का साधन समझते हैं।

आत्मा की उन्नति के लिये तथा मानसिक शक्तियों के विकास के लिये रवीन्द्र स्वराज्य की आवश्यकता समझते हैं। बहुतेरे स्वार्थी और सङ्कीर्णहृदय मनुष्य कहते हैं कि अभी भारत स्वराज्य के योग्य नहीं हुआ है, स्वशासन करने की उसमें क्षमता नहीं आई है; यदि उसे स्वराज्य के अधिकार दिये जायेंगे तो और उलटा बिगाड़ होगा। वे लोग इस प्रकार के अनेक कुतर्क करते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि अनुभव ही मनुष्य को काम सिखलाता है और पहिले पहल, सभी मनुष्य ठोकरें खाते हैं। आरम्भ में शासन-कार्य के मार्ग में उन पाश्चात्य लोगों ने भी अनेक ठोकरें खाई थीं, जो आज दुनिया में अच्छे शासक होने का घमण्ड रखते हैं। इस विषय पर रवीन्द्रनाथ यह कहते हैं —

"एक बात और है। यह सच है कि आज हमारे शासक-गण दस्तूर की मोटर-गाड़ी चला रहे हैं। किन्तु हम उन्हें उस दिन की याद दिला सकते हैं जब वे पार्लिमेण्ट के छकड़े पर सवार होकर गत को चलते थे और जब खाइयों और गड्ढों पर गिर पड़ने से उसके पहियों से खर्र खर्र की आवाज निकलती थी, तब क्या वह आवाज उनके कानों में पड़कर जयध्वनि का मजा नहीं देती थी? पार्लिमेण्ट ने दाहिने-बायें धक्के खाकर अपने रास्ते की लकीरें बनाई हैं। आरम्भ में उसे "स्टीम रोलर" द्वारा लैस की हुई पक्की सड़क

नहीं मिली थी। कभी राजा, कभी गिरजा, कभी जमींदार, कभी शराबियों का प्रश्न उठता था। क्या वह एक समय नहीं था, जब मेम्बर पार्लिमेंट में हाज़िर होने को जुर्माना देना या सज़ा पाना समझते थे? गलतियाँ न करने का अभिमान भी वृथा है, क्योंकि आयर्लेण्ड और अमेरिका के पुराने सम्बन्ध से लेकर आज डार्डिनल्स और मेसेपोटेमियाँ की घटनाओं तक, न जाने, कितनी गलतियाँ गिनाई जा सकती हैं। भारत-विभाग में जो गलतियाँ की गई हैं, उनकी संख्या भी कम नहीं है। परन्तु उनके विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। अमेरिका के राष्ट्र-तन्त्र में कुबेर देवता के मुसाहब जो कुकर्म करते हैं, वे भी सामान्य नहीं हैं। किसी समय फ्रान्स की नैतिकता के अन्याय पर जो प्रकाश डाला गया था, उसमें भी शत्रुओं की अपशक्ति ही का हाथ था। यह सब कुछ होते हुए भी इस बात का किसी को सन्देह नहीं है कि आत्मसंशोधन की चिर सबलता के वेग से मनुष्य, भूलों द्वारा ही भूलों का सुधार करता हुआ, ऊपर उठता है।'

भूल हरएक मनुष्य से होती है। बिना भूल किये-बिना ठोकर खाये-कोई देश अथवा मनुष्य आगे नहीं बढ़ सकता। यदि हमारे भूलें करने और ठोकरें खाने के डर के कारण हम स्वराज्यविहीन रखे जाते हैं तो यह हम लोगों के प्रति बड़ा अन्याय है। यदि भूल करने के डर से कोई राष्ट्र स्वशासन

करने से वञ्चित रखा जावे तो यह ईश्वरी दृष्टि से भारी पाप है। भूलों के द्वारा अनुभव प्राप्त कर उस अनुभव से अपने आत्मविकास के मार्ग को प्रशस्त बनाने के लिये स्वराज्य की आवश्यकता है। शासकों को चाहिये कि वे शासित देश को केवल अपनी भोग्य भूमि न समझें। वे इस बात को अवश्य सीखें कि शासितों को जिम्मेदारी का भार देकर शासन-क्षम बना लेने ही से शासकों की योग्यता और उनके अन्तः-करण की उदारता का पता चलता है। यदि किसी आधीन देश को, शासकों की ओर से, जिम्मेदारी का काम न सौंपा जावेगा तो उस देश की बढ़ती हुई जीवन-शक्ति को आघात पहुँचेगा। इससे शासित देश की हानि तो होगी ही, पर इसके साथसाथ शासकों की अयोग्यता और उनकी स्वार्थ-बुद्धि का भी पता चलेगा। रवीन्द्रनाथ इस जिम्मेदारी के न पाने की शिकायत करते हुए कहते हैं —

"हमारी शिकायत यह है कि काम करने की जिम्मेदारी हमारे हाथों में नहीं है, हमारे शासक हमारी रक्षा की जिम्मेदारी अपने हाथों में लिये हुए हैं। यह घुन हमारे देश को भीतर ही भीतर पोला कर रहा है, यह हमको प्रतिदिन असहाय तथा अशक्त बना रहा है। हमारी दीनहीन अवस्था को देखकर शासकगण हमें खरी-खोटी सुनाते हैं।
यदि खुले तौर पर हम उनकी बातों का उत्तर नहीं दे सकते,

परन्तु उनके सम्बन्ध में हमारे हृदय में जो शब्द उठते हैं, वे उनके लिये साधुवाद कदापि नहीं कहे जा सकते । यदि काम करने की शक्ति हमारे हाथों में होती तो उसको कायम रखने के लिये हिन्दू तथा मुसलमान दोनों कटिबद्ध रहते, दोनों का एक लक्ष्य रहता और दोनों मिलकर काम करते । इस प्रकार काम करने से भारतवर्ष में अंग्रेजी राज्य की नींव केवल बहुत दिनों के लिये ही नहीं, सदैव के लिये दृढ़ हो जाती । किन्तु यदि ऐसा हो कि इतिहास का पृष्ठ उलटने पर अंग्रेज इन करोड़ों आदमियों को अपने सुशासन से भग्नावशेष की भाँति विशेषतः ऐसे समय में छोड़कर चल दें, जब भारत के पड़ोसी उन्नति का ऊँचा आसन पाते जा रहे हैं, तब इन दीनहीन मनुष्यों की—जिनकी जेबें खाली पड़ी हैं, जिनके हाथों में तलवार नहीं, जिनके मुँह में जबान नहीं अथवा जिनके हृदय में बल नहीं उनकी—हत्या का पाप किसके मत्थे लगेगा ? यदि क्षण-भर के लिये यह भी मान लिया जावे कि संसार के परिवर्तनशील इतिहास में केवल अंग्रेजों ही का इतिहास ऐसा है जो कभी नहीं पलटेगा, तो क्या हमारी ही किस्मत इतनी फूटी है कि हमारे दिन न फिरेंगे, हम इसी प्रकार अवनति के गढ़े में पड़े सड़ा करेंगे और इसी प्रकार अपने ही ऊपर छुरी तेज किया करेंगे ? क्या जिम्मेदारी का भाव हममें कभी पैदा ही न होगा ? क्या देश के कल्याण की बात हमें भी कभी न सूझेगी ?"

"अंग्रेज़ी राज्य में हम एक शासन की प्रजा रहे हैं, परन्तु एक जिम्मेदारी रखनेवाली प्रजा नहीं। इसी कारण हमारा ऐक्यभाव केवल एक ढोंग हो गया है। यह शासन हमको मिलाता नहीं—केवल एक कतार में खड़ा करता है। इसी-लिये तो थोड़ासा धक्का लगतेही हमारी खोपड़ियाँ आपस में टकराने लगती हैं। हमारी एकता जड़ अथवा अकर्मक है—चैतन्य वा सकर्मक नहीं। यह एक ही भूमि पर सोते हुए मनुष्यों की एकता है, एक ही पथ पर चलते हुए मनुष्यों की एकता नहीं। इस एकता पर गर्व करने या प्रसन्न होने का कोई कारण नहीं। सात सात बार झुककर हम उसकी प्रशंसा के गीत भले ही गा लें, परन्तु यह हमें ऊपर उठानेवाली चीज़ नहीं। पुराने जमाने में हमारा सामाजिक संगठन ऐसा था कि वह हमें अपने कर्तव्य और उद्देश के लिये सचेत करता रहता था। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय हमारा क्षेत्र बहुत ही सङ्कीर्ण था। हम अपने जन्मग्राम ही को जन्मभूमि माना करते थे। परन्तु उस सङ्कीर्ण क्षेत्र में भी हरएक आदमी अपनी जिम्मेदारी समझा करता था। धनी अपने धन की, और ज्ञानी अपने ज्ञान की जिम्मेदारी समझता था। जिसे जो अधिकार था उस पर उसके आसपासवालों का दावा रहता था। जिम्मेदारी और उद्योग से भरे इस जीवन पर मनुष्य हर्ष मना [illegible] हैं और गर्व कर सकते हैं। परन्तु हमारी जिम्मेदारियाँ

हमारे समाज में निचोड़ ली गई। अब केवल सरकार हमारा विचार करती है, हमें शान्ति अथवा दण्ड देती है, हमारे हिन्दू-अहिन्दू होने का निर्णय करती है, नशेबाजों के लिये शराब आदि का प्रबन्ध करती है और जब किसी ग्रामीण को बाघ अथवा चीता खा जाता है तब मजिस्ट्रेट साहब और उनके गोरे यारों को शिकार खेलने का सुअवसर देती है।"

"इस बात का निर्णय करने की कोई आवश्यकता नहीं कि इस समय हमारे लिये बाहर से जो व्यवस्था हुई है वह पहिले की व्यवस्था से अच्छी है या नहीं। यदि मनुष्य कंकर-पत्थर के टुकड़े होते तब तो यह प्रश्न महत्व का था कि वे किस प्रकार क्रमबद्ध किये जावें जिससे वे अधिक उपयोगी हो सकें। परन्तु मनुष्य मनुष्य है, उनको जीवित रहना होगा, फलना-फूलना अथवा अपनी उन्नति करनी पड़ेगी। इसी कारण इस बात को मानना ही पड़ेगा कि देशसम्बन्धी जिम्मेदारियों से देश के लोगों को अलग रखकर उनकी कर्तृत्वशक्ति को दबाये रखना और इस प्रकार उनके आनन्द-मय जीवन की हत्या करना केवल अत्याचार ही नहीं है, बल्कि राजनीति के विरुद्ध भी है। हम जो अधिकार चाहते हैं वे ऐसे अधिकार नहीं हैं जिनके द्वारा हम किसी पर अत्याचार करें या जिनके लिये हम शेखी करें। हम ऐसे अधिकार नहीं चाहते जिनसे हम संसार के सुख का ग्रास छीन लें। हमारी यह भी इच्छा नहीं है कि

के लिये, विशेषतः ऐसे नवयुवकों के लिये, जिनके हृदयों में प्राकृतिक उत्तेजना है, जिनके हृदय यहाँ के उपदेश तथा इतिहास की शिक्षा से पूर्ण हैं, जबरदस्ती निश्चेष्ट बनाया जाना मृत्यु से भी अधिक दुःखदाई है । कभी कभी बाढ़ अथवा अकाल के अवसर पर काम कर लेने से मनुष्य की आन्तरिक शुभ चेष्टाओं का विकास नहीं हो सकता। उनका विकास विधिपूर्वक से सदैव कर्म करते रहने में होता है । इन चेष्टाओं के दबी रह जाने से निराशा के कारण ऐसे विकार उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे देश कष्ट पाता है । इसीलिये यह देखा जाता है कि आदर्श रखनेवाले और उनके अनुसार काम करनेवाले लोगों पर ही हाकिमों का प्रबल सन्देह रहता है।"

आगे चलकर रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

"यह देश हमारा देश है, केवल इसलिये नहीं कि हम इससे उत्पन्न हुए हैं, बल्कि इसलिये भी कि हमारी तपस्या तथा हमारी कमाई पर इसका दावा है । यदि इस भाव को अनुभव करने के लिये यहाँ के लोगों को उत्साहित किया जावे, तो यहाँ अंग्रेजी राज्य अटल रह सकता है। इतने बड़े देश को अशक्त, अयोग्य तथा राजनैतिक प्रबंध की जिम्मेदारियों से अलग रखना बड़ी भारी गलती है, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर सहायता देने में यह बेकार सिद्ध होगा और इसका भार असह्य हो जावेगा। साथ ही कमजोर से कमजोर की भी

प्रतिकूलता नौका के उस छोटे छिद्र के तुल्य है जो शान्त वायु में तो कोई हानि नहीं पहुँचा सकता, परन्तु तूफान आने पर, जब सब मल्लाह डाँड़ और पतवार सँभालने में लगे हों, वह उस नौका को डुबा सकता है। उस समय दाँत पीसना और पुलिस की लाठियाँ हानिकारक सिद्ध होती हैं। समय पर एक छोटे सूराख की मरम्मत कर देने से आगे होनेवाले बड़े नुकसान से बचाव हो जाता है—यह एक सिद्धान्त है और मैं समझता हूँ कि इसे अंग्रेजी राजनीतिज्ञ भी जानते हैं।"

पूर्वोक्त अवतरणों के पढ़ने से पाठक रवीन्द्रनाथ के उन्नतम राजनैतिक विचारों से कुछ न कुछ अवश्य परिचित हो गये होंगे। मनुष्य की आत्मा के विकास के लिये, उसकी वक्तृत्वशक्ति के प्रकाश के लिये तथा सम्मानपूर्वक जीवित रहने के लिये रवीन्द्रनाथ स्वराज्य की आकांक्षा करते हैं। उनका मत है कि मानवसमाज में गतिशीलता लाने के लिये और कार्यक्षेत्र में उसे कर्मवीर बनाने के लिये उस पर जिम्मेदारियों का होना आवश्यक है। जो जीवन निरापद शान्तिमय है, गति-विहीन है और वक्तृत्वशक्ति से हीन है, वह बिना तेल के दीपक की तरह शीघ्र ही बुझ जाता है। जीवन के साथ गति-शीलता और वक्तृत्वशक्ति अवश्य होनी चाहिये। जीवनविकास के लिये इनकी बड़ी आवश्यकता है। जबतक मनुष्य के हाथ में जिम्मेदारी नहीं होती, तबतक इन गुणों का विकास यथेष्ट

रूप से नहीं होता। अतएव जीवन को गतिमान और उन्नत बनाने के लिये तथा इन गुणों के विकास के लिये हमारे हाथ में जिम्मेदारी होनी चाहिये। इस जिम्मेदारी को प्राप्त करने के लिये रवीन्द्रनाथ स्वराज्य की आवश्यकता समझते हैं। रवीन्द्रनाथ ने लोकमान्य तिलक की तरह स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार माना है। उनका कथन है कि हम किसी स्वार्थसिद्धि के लिये या दूसरों पर अपना अधिकार जमाने के लिये स्वराज्य की कामना नहीं करते, पर भारतीय राष्ट्र के जीवनविकास के लिये ही स्वराज्य की आकांक्षा करते हैं। हमें स्वराज्य की आवश्यकता इसलिये है कि हमारा जीवन फले-फूले हमारी आत्मिक शक्तियों को विकास का दिव्य मार्ग मिलता रहे। इस अधिकार से किसी राष्ट्र को वञ्चित रखना, लोगों की सचेष्टता को दबाये रखना और इस तरह उन्हें आगे बढ़ने से रोकना सरासर अन्याय है। रवीन्द्रनाथ ने अपने लेखों में इस अन्याय का प्रतिवाद खूब जोर-शोर से किया है। उन्होंने दिखलाया है कि यदि भूलें हों तो कोई हानि नहीं, हमें आत्मशासन के अधिकार होने चाहिये। इन भूलों ही से हमें अनुभव प्राप्त होगा और उसी अनुभव से हमारे पथ पर प्रकाश पड़ेगा। उन्होंने दिखलाया है कि अकर्मण्य जीवन से–निरापद शान्ति से–जीवनशक्ति का नाश हो जाता है। जिस राष्ट्र को अपनी जिम्मेदारी का भान नहीं है–जिस राष्ट्र में वक्तृत्व शक्ति नहीं रही है–

समझ लेना चाहिये कि उस राष्ट्र की मृत्यु नजदीक आरही है। जीवित रहने का अधिकार प्रत्येक राष्ट्र को है और इसके लिये उसके पास ये गुण होने चाहियें। इन गुणों से विहीन कर किसी राष्ट्र को वक्तृत्वहीन बनाना उसे मौत के मुँह में ढकेलना है। हत्या के बराबर दूसरा पाप नहीं और किसी राष्ट्र को विकास का मौका न देकर, वक्तृत्वहीन बनाना अप्रत्यक्ष रीति से उसकी जीवनशक्ति को पंगु बनाना है। नैतिक दृष्टि से—मनुष्यता के ख़याल से यह भारी अन्याय है। हम ऊपर कह चुके हैं कि रवीन्द्रनाथ की दृष्टि बड़ी उदार है। उसमें अखिल मानव जाति समाई हुई है। वे केवल भारत ही के लिये ये अधिकार नहीं चाहते; उनका मत है कि सारी मनुष्य-जाति को आत्मविकास करने का अधिकार हैं। वे चाहते हैं कि सारी मनुष्य-जाति के लिये वह क्षेत्र खुला हुआ होना चाहिये, जिससे वह अब भी आत्मा का उत्कर्ष-साधन कर सके। इसके लिये सब मानव समूहों को—सब राष्ट्रों को—आत्मशासन के अधिकार होने चाहिये। जो जातियाँ पिछड़ी हुई हैं, जो जातियाँ निर्बल गिनी जाती हैं, जो जातियाँ शताब्दियों से बलवानों के पैरों तले कुचली जा रही हैं और जिम्मेदारी से विहीन रखी जा रही हैं, उनके प्रति रवीन्द्र ने अपनी प्रभा-मय कविताओं में बड़ी दया और सहानुभूति प्रगट की है। उन्होंने अपनी कविताओं और लेखों में मानवी बंधुत्व और विश्वव्यापी प्रेम की उच्चतम भावनाओं को एक समान प्रकाशित किया है,

और कहा है कि राष्ट्रों राष्ट्रों में नीच-उच्च का, मालिक-गुलाम का तथा प्रतिद्वन्द्वी का सम्बन्ध न रहकर बन्धुत्व का सम्बन्ध रहे और सबको अपने अपने ढङ्ग से आत्मविकास करने के स्वतन्त्र अधिकार रहें।

रवीन्द्रनाथ सच्चे राष्ट्रवादी हैं। आप स्वदेश पर प्रेम करते हैं और इसके साथ साथ विश्व का भला चाहते हैं। आप किसी राष्ट्र से घृणा नहीं करते। आपकी स्वदेश-भक्ति विश्वव्यापी प्रेम के दिव्य तत्वों से परिपूर्ण है। रवीन्द्रनाथ का मत है कि राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य सामाजिक विकास का चिन्ह है। इस स्वातन्त्र्य की सीमा किसी देश विशेष तक ही परिमित नहीं होनी चाहिये, इसकी व्यापकता सारे विश्व में फैलनी चाहिये। प्रत्येक राष्ट्र में कुछ न कुछ विशेषताएँ होती हैं और इन विशेषताओं का प्रकाश तब ही हो सकता है जब उसके लिये आत्मोन्नति का मार्ग खुला हो। रवीन्द्र-नाथ का मत है कि यदि किसी राष्ट्र को अपनी विशेषताओं के प्रकाशित करने का सौभाग्य प्राप्त है तो इसका लाभ उसे अकेले ही न उठाना चाहिये—दूसरों को भी उठाने देना चाहिये। उन्होंने लिखा है—

"जिस जाति ने कोई बड़ी सम्पत्ति पाई है वह उसे अन्य देशों को दान करने ही के लिये मिली है। यदि वह जाति कृपणता करे तो वह अपने ही को वञ्चित करेगी।

यूरोप की प्रधान सम्पत्ति विज्ञान और मनुष्य के अधिकार हैं। ईश्वर ने अंग्रेजों को भारत के लिये यही उपहार देकर समुद्र-पार भेजा"। पाठको, रवीन्द्रनाथ की दृष्टि कितनी विशाल और उदार है ! वे प्राप्त की हुई सम्पत्ति को दूसरों के साम्हने कितनी उदारता के साथ रखना चाहते हैं, यह बात उनके उपर्युक्त वाक्यों से प्रगट होती है। वे मनुष्य के लिये अथवा राष्ट्र के लिये इसीमें गौरव समझते हैं कि वह दूसरों को दे—दूसरों के ज्ञान और सुख की वृद्धि करे। अपनी विशेषता को—अपनी प्राप्त की हुई चीज को—अपने ही पास रखना सङ्कीर्णता है। वे एक जगह कहते हैं —

"अंग्रेज अपने इतिहास की दुहाई देकर यह कह सकते हैं कि उन्होंने स्वराज्य की सम्पत्ति बड़ी मिहनत और लड़ाई-झगड़ों के पश्चात् पाई है। मैं इसे स्वीकार करता हूँ। संसार की हर एक अग्रगण्य जाति ने किसी विशेष सत्य को बड़े कष्ट, परिश्रम तथा त्याग से ही प्राप्त कर पाया है। किन्तु उसका अनुकरण करने की इच्छा रखनेवाली किसी अन्य जाति के लिये भी क्या परिश्रमपूर्वक उतने ही बीहड़ रास्ते और कंटकपूर्ण मार्ग को तय करने की आवश्यकता है ? कभी नहीं। क्या भारतवर्ष के वैज्ञानिक आविष्कारों से पश्चिम लाभ न उठाना चाहेगा ? और क्या पाश्चिमात्य तत्वों से लाभ उठाने का अधिकार भारतवर्ष को नहीं है ? जिसकी दृष्टि में सारी

मनुष्य-जाति के हित का ध्यान होगा वह इन प्रश्नों के उत्तर में "नहीं" नहीं कह सकता । फिर रवीन्द्र का हृदय तो सारी मानव जाति के प्रेम से पल्लवित है । वे राष्ट्रीय संकीर्णता से अलग होकर भारत के भविष्य को महान बनाना चाहते हैं। वे भारत के लिये इसलिये स्वाधीनता चाहते हैं कि वह संसार के कल्याण में अपनी ओर से कुछ दे । वह संसार के ज्ञान में अपनी ओर से कुछ ऐसी देन देकर उसकी वृद्धि करे जो दिव्य और आत्मिक हो । भारत इस योग्य हो जावे कि वह संसार को अपना आध्यात्मिक संदेश सुना सके । रवीन्द्रनाथ भारत पर प्रेम करते समय उसकी आत्मा पर प्रेम करते हैं—उसके आध्यात्मिक सिद्धान्त पर करते हैं—भूमि और व्यापार पर नहीं । उनका ध्येय आत्मिक है । वे जानते हैं कि उनका प्यारा भारत संसार को एक बड़ी कीमती वस्तु दे सकता है और इसीलिये वे भारत को स्वाधीन देखना चाहते हैं। उनका आन्तरिक विश्वास है कि स्वाधीन होने पर भारत अपनी आत्मा का विकास कर सकेगा, वह अपने आध्यात्मिक सुख की वृद्धि कर सकेगा और अपने विशाल सत्य के प्रकाश से संसार को प्रकाशित कर सकेगा । राजनैतिक स्वाधीनता रवीन्द्र का अन्तिम ध्येय नहीं है, इसे वे उच्च प्रकार की आत्मिक स्वाधीनता का साधन समझते हैं । वे चाहते हैं कि भारत अपने प्रश्नों को अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा के बल पर हल करे । भारत का सिद्धान्त अनंत है, उसका उद्देश अनंत है

और उसका मंत्र अनंत है। भारतवासी जीवन को आध्यात्मिक स्फूर्ति मानते हैं और प्रकृति को आत्मा का खिलौना समझकर सारे विश्व में आत्मा की सर्वव्यापी सत्ता का अनुभव करते हैं। रवीन्द्र कहते हैं कि हमारे सब कार्य इसी आत्मसत्ता की प्रेरणा से होने चाहिये। भारत सदा से आत्म-शक्ति का उपासक रहा है। उसने संसार के सकल चराचर पदार्थों में आत्मा का अनुभव किया है। पर अब भारतवर्ष अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति की बलि देने लगा है। वह उच्च धैर्य, नम्रता और पवित्रता को खोता जा रहा है। उस पर जड़वाद का परदा पड़ता जा रहा है। वह अपनी राजनीति को पश्चिमी राजनीति की दासी बनाना चाहता है। पाश्चत्य राजनीति में जड़वाद है, प्रतिद्वन्द्वता के भाव हैं और दूसरे राष्ट्रों को हड़प कर जाने की कुटिलता है। हमारी राजनीति आत्मिक है। वह सारी मनुष्य-जाति का कल्याण चाहती हुई अपने देश के लिये स्वाधीनता और आत्मविकास का खुला मार्ग चाहती है। वह संसार में "वसुधैव कुटुम्बकम्" का दिव्य और विशाल सिद्धान्त स्थापित कर अपना और सारे विश्व का कल्याण चाहती है। हम केवल अपने लाभ के लिये ही स्वराज्य नहीं चाहते, बल्कि इसलिये भी चाहते हैं कि हमें इससे वह अवसर मिले जिससे हम अपने आत्मिक ज्ञान से संसार को आलोकित कर मानव जाति की आत्मिक तृप्ति को बढ़ा सकें और सच्चे सुख का आविष्कार कर चिर–

काल से दुःख पाती हुई असंतुष्ट मानव जाति को सन्तोष और अमृत का घूँट पिला सकें। इसीलिये हम रवीन्द्र के साथ शासकों से कहते हैं—

"आत्म-कर्तृत्व का सुअवसर प्रदान कर हमारी शक्तियों के लिये रास्ता साफ कर दो। यदि उसे विघ्न-बाधाओं से घेरकर तथा दरवाजे के भीतर बन्द रखकर उन्नति न करने दोगे और इस प्रकार उसे संसार की दृष्टि में हेय बनाये रखोगे, तो इससे बढ़कर और दूसरा पाप न होगा।"

नवाँ अध्याय।

रवीन्द्रनाथ का संसार को सन्देश।

रवीन्द्रनाथ ने संसार को जो सन्देश दिया है वह मानव जाति के लिये अत्यन्त कल्याणकारक है। यह सन्देश आध्यात्मिक है। इसमें उच्चतम आत्मिक भाव, मानवी बंधुत्व और विश्वव्यापी प्रेम का सात्विक भाव भरा हुआ है। इसमें दिखलाया गया है कि जब संसार जड़वाद को गौण समझकर आत्मा को प्रधानता देगा, तब ही वह स्थायी रूप से शांति पा सकेगा। यूरोप के गत महायुद्ध ने कविवर के हृदय को दहला दिया है तथा उनके आत्मिक भावों को और भी अधिक दृढ़ कर दिया है। यह युद्ध जड़शक्ति की पूजा का परिणाम था। आसुरी सम्पत्ति के पीछे पड़कर यूरोप के राष्ट्र एक-दूसरे का खून बहाने के लिये प्रवृत्त हुए थे। आत्मिक ऐक्य को उन्होंने बिलकुल भुला दिया था। इस युद्ध ने कविवर की इस बात को पुष्ट कर दिया है कि कि यूरोप आत्मिक भावों से बहुत नीचे गिर गया है—आत्मिक दृष्टि से वह नग्न सा हो गया है। और यह इसीका परिणाम है कि असंख्य मनुष्यों के रक्त की धाराओं

से यूरोप की भूमि अपवित्र हो गई है। कविवर कहते हैं कि इस भीषण हत्या की जिम्मेदारी यूरोप की राष्ट्रीय कल्पना के तत्वों की नीचता पर है। वहाँ की राष्ट्रीयता भीषणता से भरी हुई और अशुद्ध है। वह केवल अपना भला होने पर ही संतुष्ट नहीं होती, बल्कि दूसरों को लूट खसोटकर भी अपना मतलब साधने पर तुली हुई है। यूरोप की राष्ट्रीयता का उद्देश घृणित और मानव जाति के लिये बड़ा ही अनिष्टकर है। अपने क्षुद्र स्वार्थों की सिद्धि के लिये दूसरों की बलि लेना मनुष्य-जाति और ईश्वर की दृष्टि में घोरतम अपराध है। संसार में एक नैतिक नियम वर्तमान है, जिसे प्रयत्न करने पर भी कोई नहीं भुला सकता। यह नियम जिस प्रकार व्यक्तियों को लागू है, वैसे ही राष्ट्रों पर और सुसङ्गठित समाजों पर भी घटित होता है। आज यूरोपवाले अपने राष्ट्र के नाम पर इस नियम की अव-हेलना नहीं कर सकते। हम अपने सुभीते के लिये सत्य को भूल सकते हैं; पर सत्य हमें नहीं भूल सकता। वह समृद्धिशाली अवस्था किसी काम की नहीं, जिसकी नींव नैतिक तत्वों पर नहीं पड़ी है। यदि मनुष्य केवल जड़समृद्धि ही को अपना आराध्य देव बनाये रक्खेंगे और इसके लिये वे मनुष्य-जाति को भूल जावेंगे, तो उनमें यह जंगलीपन बना रहेगा जिसे वे सभ्यता के नाम से पुकारते हैं। यूरोप ने जैसे कर्म किये थे वैसे ही फल उसे इस भीषण महायुद्ध के रूप में मिले। यूरोप ने आत्मा को

भुला दिया था, मनुष्य-जाति की एकता को ताक पर रख दिया था तथा विश्वबंधुत्व और विश्वव्यापी प्रेम की उदात्त कल्पना को तिलाञ्जलि दे दी थी। वह जड़शक्ति का परम उपासक बन गया था और विज्ञान का उपयोग मानव-नाश के काम में करने लगा था। इसी सभ्यता का यह परिणाम हुआ कि इस महायुद्ध में करोड़ों मनुष्यों के रक्त से यूरोप की भूमि तर हो गई और वहाँ हत्याकाण्ड का महा वीभत्स दृश्य उपस्थित हो गया।

इस युद्ध ने यह बतला दिया कि पाश्चात्य सभ्यता मरी हुई है, जीवित नहीं—अचेतन है, सचेतन नहीं। वह सभ्यता मनुष्य को यंत्र की तरह समझती है, आत्मा की तरह नहीं। वह जड़शक्ति की उपासिका है—आत्मा और आत्मानंद की नहीं। वह बुद्धि को प्रधानता देती है—आत्मा और आत्मिक अन्तःप्रेरणा को नहीं। वह सभ्यता राक्षसी है—दैवी नहीं। दूसरों की वस्तु को हड़प करने में ही वह अपना गौरव समझती है—दूसरों को देने में नहीं। दूसरों की वस्तु को हड़प कर जाने के नीचतम उद्देश की सिद्धि के लिये उसके सारे शस्त्र और नर-संहारक हथियार तैयार रहते हैं। जड़शक्ति-रूपी राक्षसी की पूजा करने के लिये ही यूरोप ने समृद्धि के मार्ग का अवलम्बन कर बड़ी बड़ी तैयारियाँ की थीं और उन्हीं तैयारियों की भीषणता इस महा-युद्ध में नर-संहार के रूप में प्रगट हुई थी। इस राक्षसी की

तृष्णा ने यूरोप ने ईश्वरी सृष्टि पर भयानक विपत्ति डाली थी। इससे न तो यूरोप ही को आराम मिला और न अन्य राष्ट्रों ही को। सबको भीषण विपत्ति का सामना करना पड़ा। जड़-शक्ति-रूपी पिशाचिनी की पूजा में यूरोप की क्षति हुआ ही, पर उसने दूसरे देशों को भी क्षति पहुँचाई। हाय! इस पाश्चात्य सभ्यता ने कितना सत्यानाश किया है! इसने संसार में क्या क्या अनर्थ नहीं किये हैं! इसने मनुष्य जाति के उत्तम गुणों को भुला दिया। इसने रोटी के टुकड़ों के लिये—भूमि के भौतिक अधिकार के लिये—राष्ट्रों को कुत्तों की तरह लड़वाया। इसने आदमीयों के सत्कार के लिये राष्ट्रों के दरवाजे बन्द करवा दिये। इसने दृढ़ता और स्वच्छता ही के तत्व को सिखलाया और उदारता तथा मानवी परोपकार के तत्व को एकदम भुला दिया। इसने बलवान राष्ट्रों को निर्बलों की रक्षा करने का तत्व नहीं सिखलाया, बल्कि उन्हें निगल जाने का मार्ग बतलाया। इस पाश्चिमात्य सभ्यता की सब बुराइयों की जड़ यह है कि इसने राष्ट्रीयता के झूठे भावों की आराधना आरंभ की थी। पाश्चात्य लोगों ने असत्य देवता के सामने सिर झुकाना शुरू किया था। यह असत्य देवता और कुछ नहीं—राष्ट्रीयता के मानवी भावों का अज्ञान है। रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि स्वयं राष्ट्रीयता बुरी नहीं है, पर उसका जो झूठ, नीच, स्वार्थपूर्ण और विनाशकारक अर्थ लगाया जाता है वह बुरा है। इसी विषय पर मिस्टर जी० लोवेस डिकिन्सन लिखते हैं—

"जब राष्ट्रीयता लोगों को स्वशासन के अधिकार दिलाने के लिये खड़ी रहती है, तब समझना चाहिये कि वह मानवी स्वाधीनता के लिये काम कर रही है। परन्तु जब वह दूसरे लोगों पर शासन करने का अथवा उन्हें नाश कर अपना सा बना लेने का प्रयत्न करती है, तब समझना चाहिये कि उसका इरादा राज्य-तृष्णा से भरा हुआ है। राष्ट्रीयता का कार्य जबतक आत्मरक्षा करना रहता है तबतक वह सम्माननीय है। जब वह स्वाधीनता के लिये युद्ध छेड़ती है, तब उसका कार्य पवित्र है। पर जब वह दूसरों पर अधिकार जमाने के लिये ऐसा करती है तब वह बड़े ही घृणित रूप को हो जाती है।"

पश्चिम में राष्ट्रीयता का बड़ा ही सङ्कीर्ण और स्वार्थपूर्ण अर्थ किया जाता है। उसमें जो कुछ भक्ति रहती है, वह केवल अपने देश ही तक परिमित रहती है। दूसरे देशों पर वह प्रेमदृष्टि नहीं रखती--वह उन्हें हड़पने की इच्छा रखती है। इस राष्ट्रीयता में धर्म और मनुष्यता का भाव बहुत कम है। इसमें धोखेबाजी, छल, कपट और स्वार्थ विशेष रूप से है। जिन राष्ट्रों में राष्ट्रीयता का भाव इस प्रकार का होता है, वे दूसरे राष्ट्रों को हड़प कर जाने के लिये "ऊपर शक्कर और भीतर विष" की कहावत को चरितार्थ करते हैं। ये राष्ट्र पिछड़े हुए राष्ट्रों से कहते हैं —"हमारे पास प्रकाश है, हम चाहते हैं कि यह प्रकाश सबको मिले—सबमें

सभ्यता की रोशनी चमके। इसीलिये हम स्वार्थ-त्याग कर अपना कुछ प्रकाश तुम्हें भी देना चाहते हैं। यदि तुम इस प्रकाश का ग्रहण नहीं करोगे तो इस संसार में तुम्हारा अस्तित्व बड़ी कठिनाई से रहेगा। हम तुम्हारे यहाँ अपना प्रकाश डाल तुम्हें सभ्य बनाने के लिये आये हैं। इसमें हमारा स्वार्थ नहीं' बल्कि परोपकार-दृष्टि है। मनुष्य-जाति के पिछड़े हुए अंशों में प्रकाश डालना हमारा कर्तव्य है और इसी पवित्र कर्तव्य का पालन करने के लिये हम तुम्हारे यहाँ आते हैं। जब तुम सभ्य बन जाओगे, जब तुम अपना काम स्वयं सँभालने के योग्य हो जाओगे, तब हम तुम्हारा देश तुम्हारे सुपुर्द कर चले जावेंगे।" इस प्रकार के धूर्ततापूर्ण और छलकपट-युक्त वचनों से यूरोप के राष्ट्र अन्य राष्ट्रों पर अपना अधिकार फैलाते जा रहे हैं। चाहे वे राष्ट्र इन्हें अपना रक्षक बनाना स्वीकार करें या न करें, परन्तु ये साम–दाम–दण्ड–भेद का प्रयोग कर उनमें प्रविष्ट हो ही जाते हैं और उन्हें घुन की तरह खाकर निःसत्व कर देते हैं।

देखते हैं कि आज सारे भूमण्डल में गोरे राष्ट्र अपनी प्रबल कुलीन–तन्त्रता (aristocracy) सङ्गठित कर रहे हैं। जो यूरोपियन राष्ट्र इस कार्य में कम भाग ले रहे हैं, उनकी दशा करुणाजनक और उनका भविष्य अन्धकार-मय बनाया जा रहा है। आजकल सब बड़े बड़े यूरोपीय राष्ट्रों के

लिये उपनिवेशों का प्रश्न महत्व-पूर्ण हो रहा है। सर्व यूरोपीय राष्ट्र अपनी अपनी टाँगें फंसाने के लिये उपनिवेश चाहते हैं। ऐसे यूरोपियन राष्ट्र बहुत ही कम हैं जिनके पास अपनेको फैसाने के लिये काफी मुल्क हो। बहुत से राजनीतिज्ञों का कथन है कि उपनिवेशों के कारण भविष्य में इन यूरोपीय राष्ट्रों में वर्तमान महायुद्ध से भी भीषण युद्ध होंगे। भगवान न करें कि वह दिन आवे। पर अब यूरोप को सँभल जाना चाहिये और अपनी कुटिल नीति को छोड़कर कार्य करते समय मानवी बंधुत्व और विश्वव्यापी प्रेम का उच्च तत्व साम्हने रखना चाहिये, जिससे भविष्य में संसार को ऐसे महा संकट में न पड़ना पड़े।

यह बड़े दुःख की बात है कि अबतक यूरोप की नीति डाकेजनी की रही है। ऊपर से तो वह मीठी मीठी बातें बनाता है, पर भीतर उसका यही उद्देश बना रहता है कि किसी भी प्रकार हमारे राज्य का विस्तार हो जावे। जिसे सभ्य लोग ठगवाजी कहते हैं वह आजकल के पाश्चिमात्य संसार में अधिकता से चल रही है। यूरोप के राष्ट्र ऊपर से तो मानव जाति के उच्चातिउच्च आदर्शों को प्रगट करते हैं और यह शुभ भावना प्रगट करते हैं कि वे पिछड़ी हुई जातियों को सभ्य बनाना चाहते हैं तथा संसार के अंतःकरण को संस्कृत ना चाहते हैं, पर भीतर से उनकी यह चेष्टा रहती है कि

दूसरी जातियों का खून किस प्रकार चूसा [illegible] ये एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में बाइबिल लेकर चलते हैं। आजकल के सभ्य कहलानेवाले यूरोपीय राष्ट्रों का काम भोली दुनिया की आँखों में धूल झोंकना ही हो रहा है। इन लोगों ने अपना यह सिद्धान्त सा बना लिया है कि "यह अच्छा है कि मैं तुम्हारा नाश करता हूँ पर यह बुरा है कि तुम मेरी बात [illegible] [illegible] स्वार्थियों से स्वार्थ ही यूरोप का देवता हो रहा है और इसी देव की पूजा करने में उसने अपनी सारी शक्ति लगा रखी है। एक विद्वान का कथन है कि स्वार्थ आधुनिक यूरोप का आराध्य देव है और इसे प्राप्त करने का साधन राजसत्ता [illegible] है। वहाँ के लोग विवेक से दूर हटते जाते हैं। ये स्वार्थपूर्ण भावनाएँ कई यूरोपीय ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में दिखाई पड़ती हैं। [illegible] गायसी नाम के एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार अपने एक ग्रन्थ में लिखते हैं

"संसार के जिस किसी भी हिस्से में ब्रिटिश राज्य का स्वार्थ जोखिम में हो वहाँ मैं खुले तौर से यह मत दूँगा कि वह (ब्रिटिश राज्य) जैसे बने वैसे अपने स्वार्थ और हित की रक्षा करे। इस काम में यदि उसे दूसरे मुल्क को अपने में मिलाना पड़े अथवा युद्ध तक की जोखिम झेलनी पड़े, तो कोई हर्ज नहीं। हाँ, जिस देश को हम अपने में मिलावें या अपनी रक्षा में लें, उसे ऐसा अवश्य होना चाहिये, जिससे

ब्रिटिश साम्राज्य को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष लाभ पहुँचे।" इस प्रकार की भावनाओं से आज सारा यूरोप प्रेरित है। साम्राज्य-विस्तार ही आज यूरोपियन राष्ट्रों का मुख्य ध्येय हो रहा है। वर्तमान समय में उसका कोई कार्य स्वार्थ से खाली नहीं है। स्वार्थ के लिये वह युद्ध करता है, स्वार्थ के लिये वह अन्य राष्ट्रों को अपने में मिलाने की चेष्टा करता है और स्वार्थ के लिये वह मनमाने झगड़े-बखेड़े करने के लिये तैयार हो जाता है।

गत महायुद्ध यूरोप के पाप-कर्मों का मानों प्रायश्चित्त था। यूरोप ने अनुचित आदर्श की पूजा करके जो पाप किया थ, उसका फल इस महायुद्ध के रूप में उसे मिला। जिन जातियों का चमड़ा गोरा नहीं है उन जातियों के प्रति घृणा प्रगट करनेवाली स्वार्थी राष्ट्रीयता इस महायुद्ध की जड़ है। यह संसार-व्यापी महायुद्ध उन यूरोपीय राष्ट्रों के पारस्परिक द्वेष और चढ़ा-ऊपरी का फल था, जो अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये रंगीन जातियों का उपयोग करने का उद्देश रखते हैं।

आजकल के पाश्चिमात्य संसार में राष्ट्रीयता के अनुचित भावों का तो जोर बढ़ ही रहा है, पर इसके सिवा उसमें एक दूसरी बुराई भी घुसती जा रही है। यह बुराई साम्राज्य-वाद की कल्पना है। विशुद्ध राष्ट्रीय कल्पना से साम्राज्यवाद

की कल्पना का वैषम्य भाव है, परन्तु अनुचित राष्ट्रीय कल्पना से इसका बड़ा मेलजोल है। जिस प्रकार राष्ट्रीयता का अनुचित भाव मनुष्य को स्वदेश की सीमा के बाहर लेजाकर उसे अन्य देशों में पैर फैलाने का आदेश करता है, वैसे ही साम्राज्यवाद की कल्पना बलवानों की स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की पुष्टि करती हुई निर्बलों को निगलकर साम्राज्य-विस्तार करने का आदेश करती है। साम्राज्यवाद का अर्थ आजकल यह समझा जा रहा है कि निर्बलों का स्थान बलवान ग्रहण करें। ऐसी हालत में जो लोग साम्राज्यवाद की पुष्टि करते हैं वे प्रत्यक्ष रीति से निर्बलों की हत्या का उपदेश कर रहे हैं। साम्राज्यवाद विशुद्ध राष्ट्रीयता का शत्रु है। आजकल के साम्राज्यवादियों का मत है कि जिन राष्ट्रों में राजनैतिक प्रतिभा की कमी है तथा जो राष्ट्र बल और बुद्धि में कम है उन पर अन्य राष्ट्रों का अधिकार होना चाहिये। साम्राज्यवाद यह भी प्रतिपादन करता है कि साम्राज्य की रक्षा शक्ति से होनी चाहिये। यह कल्पना बड़ी निःसार और हानिकारक है। ईजिप्ट, बेबिलोन, ईरान, ग्रीस, रोम, स्पेन, फ्रान्स आदि ने भी शक्ति के द्वारा, इसी प्रकार, संसार को ऐक्य के सूत्र में बाँधना चाहा था, पर उन्हें सफलता नहीं हुई। जब इन देशों को इस कार्य्य में असफलता हुई, तब आधुनिक देशों को इसमें सफलता कैसे हो सकती है?

कुछ लोगों का यह ख्याल हो रहा है, कि राष्ट्रीयता के तत्व पर यदि यूरोप का बटवारा हो जावे तो संसार में स्थायी शान्ति हो सकती है। रवीन्द्रनाथ के ख्याल में यह विचार भ्रमात्मक है। रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि "तुम कहते हो कि ये मशीनें (मशीन-तुल्य राष्ट्र) भय के कारण परस्पर समझौता कर लेंगी। पर 'स्टीम-बायलरों' का यह संघ तुम्हें वह आत्मा कहाँ से देगा जिसके साथ विवेक और ईश्वर है।" बात सच है; भय और कमजोरी के पाये पर शान्ति की इमारत दीर्घ काल तक नहीं टिक सकती। जिस राष्ट्र की नींव और आदर्श यान्त्रिक है वह तो यही चाहता है कि सारे संसार में उस अकेले की सत्ता रहे। इससे वह अन्य राष्ट्रों से लड़ता रहेगा और स्थिर शांति न रह सकेगी। इसीसे रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि जबतक संसार का पाया जड़वाद पर जमा रहेगा जबतक उसे आत्मा का ख्याल न होगा— तबतक इस संसार-क्षेत्र में युद्धों की भीषण भरमार होती रहेगी और युद्ध तबतक बन्द न होंगे जबतक यह पृथ्वीतल ठंडा न हो जावे और यहाँ का अन्तिम मनुष्य अपना अन्तिम श्वास न ले ले। इसलिये इन सब बुराइयों को दूर करने के लिये राष्ट्रों के जीवन का पाया आत्मा पर स्थापित होना चाहिये, न कि जड़वाद पर। आजकल के पाश्चिमात्य राष्ट्र आत्मा को भूल गये हैं। वे इस बात का विचार नहीं करते कि हम सारे संसार के प्राणी भाई-भाई हैं; हमें एक दूसरे के विकास में

सहायता पहुँचानी चाहिये। ये राष्ट्र खास तौर से अपना एक उद्देश रखते आये हैं और वह उद्देश उन सब अन्य राष्ट्रों को चबा जाना है, जिनका चमड़ा सफेद न हो। इन पाश्चिमात्य राष्ट्रों की लोभवृत्ति इतनी बढ़ गई है, कि जबतक पृथ्वी पर एक भी ऐसा स्थान रहेगा, जो इनके आधीन नहीं है तबतक इनकी कुदृष्टि उसपर लगी रहेगी और उसे प्राप्त करने के लिये वे मनमाने उपायों का अवलम्बन करते रहेंगे। उसे प्राप्त करने के लिये भिन्न भिन्न यूरोपीय राष्ट्रों में यदि युद्ध भी हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। पृथ्वी अमर्याद नहीं है, न उसकी सम्पत्ति ही इतनी असीम है कि वह सारे यूरोपीय राष्ट्रों को सर्वदा के लिये संतुष्ट कर सके। यदि यह भी मान लिया जावे कि सारी पृथ्वी पर इन राष्ट्रों का अधिकार हो जावेगा तो प्रश्न यह उठता है कि क्या इससे भी इन्हें संतोष हो जावेगा। क्या फिर ये राष्ट्र युद्ध करने से बाज आवेंगे ? कभी नहीं। हम तो समझते हैं कि यदि पृथ्वी से हजारों गुने बड़े आकार की कोई पृथ्वी आकाश से गिर पड़े और उस पर भी इनका अधिकार हो जावे तोभी इनको संतोष न होगा। जैसे जैसे इनका अधिकार बढ़ता जावेगा वैसे वैसे इनकी लोभवृत्ति भी बढ़ती जावेगी। फिर ये राष्ट्र चाहेंगे, कि इस अनन्त विश्व पर उनका अधिकार हो जावे। यदि हम यह भी मान लें कि यह असम्भव बात हो जावेगी तो क्या इससे भी शान्ति हो सकेगी और भविष्य में युद्धों का होना बन्द होजावेगा ? नहीं।

कुछ लोगों का यह ख़याल हो रहा है, कि राष्ट्रोंका
मन्त्र पर यदि यूरोप का दखल हो जाय तो संसार में स्था
शान्ति हो सकती है। रवीन्द्रनाथ के ख़याल में यह वि
भ्रमात्मक है। रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि "तुम कहते हो कि
मशीनें (मशीन तुल्य राष्ट्र) भय के कारण परस्पर समझौ
कर लेंगी। पर 'स्टीम-बायलरों' का यह संघ तुम्हें
आत्मा कहाँ से देगा जिसके साथ विवेक और ईश्वर है।
बात सच है; भय और कमज़ोरी के पाये पर शान्ति की इम
रत दीर्घ काल तक नहीं टिक सकती। जिस राष्ट्र की नी
और आदर्श यान्त्रिक है वह तो यही चाहता है कि सा
संसार में उस अकेले की सत्ता रहे। इससे वह अन्य राष्ट्
से लड़ता रहेगा और स्थिर शांति न रह सकेगी। इसी
रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि जबतक संसार का पाया जड़वाद प
जमा रहेगा जबतक उसे आत्मा का ख़याल न होगा— तबत
इस संसार-क्षेत्र में युद्धों की भीषण भरमार होती रहेगी औ
युद्ध तबतक बन्द न होंगे जबतक यह पृथ्वीतल ठंडा न हो जा
और यहाँ का अन्तिम मनुष्य अपना अन्तिम श्वास न ले ले
इसलिये इन सब बुराइयों को दूर करने के लिये राष्ट्रों के
जीवन का पाया आत्मा पर स्थापित होना चाहिये, न कि
जड़वाद पर। आजकल के पाश्चिमात्य राष्ट्र आत्मा को भूल
गये हैं। वे इस बात का विचार नहीं करते कि हम सब
संसार के प्राणी भाई-भाई हैं; हमें एक दूसरे

सहायता पहुँचानी चाहिये। ये राष्ट्र स्थान ठौर में अपना एक उद्देश रखते आये हैं और वह उद्देश उन सब अन्य राष्ट्रों को दबा जाना है, जिनका चमड़ा सफ़ेद न हो। इन पाश्चिमात्य राष्ट्रों की लोभवृत्ति इतनी बढ़ गई है, कि जबतक पृथ्वी पर एक भी ऐसा स्थान रहेगा, जो इनके आधीन नहीं है तबतक इनकी कुदृष्टि उसपर लगी रहेगी और उसे प्राप्त करने के लिये वे मनमाने उपायों का अवलम्बन करते रहेंगे। उसे प्राप्त करने के लिये भिन्न भिन्न यूरोपीय राष्ट्रों में यदि युद्ध भी हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। पृथ्वी अमर्याद नहीं है, न उसकी संपत्ति ही इतनी असीम है कि वह सारे यूरोपीय राष्ट्रों को सर्वदा के लिये संतुष्ट कर सके। यदि यह भी मान लिया जावे कि सारी पृथ्वी पर इन राष्ट्रों का अधिकार हो जावेगा तो प्रश्न यह उठता है कि क्या इससे भी इन्हें सन्तोष हो जावेगा। क्या फिर ये राष्ट्र युद्ध करने से बाज आवेंगे? कभी नहीं। हम तो समझते हैं कि यदि पृथ्वी से हजारों गुने बड़े आकार की कोई पृथ्वी आकाश से गिर पड़े और उस पर भी इनका

ऐसा होने पर यह तो जरूरी है कि सबसे ऊँचे अधिकार पर तो कोई एक ही राष्ट्र चढ़ सकेगा और इस अधिकार को पाने के लिये अन्य सब यूरोपीय राष्ट्र लड़ेंगे। पारस्परिक बंधु-भाव न होने से ये एक-दूसरे की उन्नति जरा भी सहन नहीं कर सकेंगे। जहाँ कोई राष्ट्र थोड़ा सा आगे बढ़ा, कि जन-संहारक भीषण युद्ध होने लगेंगे। ये राष्ट्र शक्ति के पल्लों के समतोलपन (Balance of power) को इतना नाजुक रखेंगे, कि उसके थोड़े से घट बढ़ जाने पर भी संसार का शान्तिभंग होने का डर रहेगा। इसीसे एक विद्वान का कथन है कि साम्राज्यवाद से संसार में शान्ति केवल उसी दशा में स्थापित हो सकती है जब सारे संसार पर केवल एक राष्ट्र का अधिकार हो जावे; क्योंकि लड़ने-झगड़ने के लिये कम से कम दो की आवश्यकता होती है। पर सारे संसार का केवल एक राष्ट्र के अधिकार में चला जाना तबतक सम्भव नहीं दिखलाई देता, जबतक कि यह दुनिया श्मशानभूमि में परिणत न हो जावे तथा धूल में न मिल जावे। प्रोफेसर केम्ब्र महाशय का कथन है कि—

"इतिहास के प्रकाश में विश्वव्यापी शान्ति कुस्वप्न सी दीख पड़ती है। यह तब ही सम्भव हो सकती है जब बर्फ सूर्य के [illegible] चला जावेगा—जब तारागण काले पड़ जावेंगे और अपना [illegible] देंगे।" जर्मनी के कई पण्डितों ने भी ऐसे ही मत

प्रकाशित किये हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्रों की आधुनिक प्रकृति ही इस प्रकार के विचारों के लिये ज़िम्मेदार है। आजकल द्वेष, ईर्षा आदि दुर्गुणों से राष्ट्रों के अन्तःकरण इतने मलीन और कलुषित हो गये हैं कि उन्हें सिवा लड़ाई-झगड़े के कुछ सूझता ही नहीं। इसी दुष्ट प्रवृत्ति के कारण राष्ट्रीयता अमृत के स्थान पर विष का काम दे रही है। यह दो राष्ट्रों में मेल-मिलाप तथा एका कराने के बदले विरोध उत्पन्न करती है। इसके कारण राष्ट्रों के आपसी व्यवहार का पाया प्रेम और उच्च आदर्श पर नहीं रहने पाता। इसके कारण भय और द्वेष की वृद्धि हो रही है। राष्ट्रों में अस्त्र-शस्त्रों की, जल-सेना की, वायुयानों की और धूप-धारवाले की बनी हुई तोपों की पूजा हो रही है। जो देश आजकल राजनैतिक सभ्यता से मण्डित समझे जाते हैं वे भय, लोभ और सशंकता के वायुमण्डल में श्वास ले रहे हैं। उन्हें सदैव इस बात का डर लगा रहता है कि न मालूम कब कौनसा राष्ट्र उन पर हमला कर बैठे। साथ ही वे यह भी चाहते रहते हैं कि दूसरा राष्ट्र किस तरह उनके पंजे में फँस जावे। आजकल की पाश्चिमात्य सभ्यता आत्मा पर स्थित नहीं है—बंदूकों और तोपों पर टिकी हुई है और वह कमज़ोर राष्ट्रों का खून चूसने ही का आदेश करती है। रवीन्द्र कहते हैं कि संसार में इतना भयङ्कर द्वेष और इतना विश्वासघात

कभी नहीं हुआ। ये सब बातें आजकल स्वदेश-भक्ति में गिनी जाती हैं। इसी झूठे आदर्श की पूजा के कारण देह का जैसा बलिदान हुआ है, हृदय को जितनी चोट पहुँची है, वास्तविक हेतु का जितना नाश हुआ है और आत्मा का जितना पतन हुआ है, वह हृदयद्रावक है। आधुनिक सभ्यता के जाल से अन्धे हुए यूरोप को उसकी नीति की नीचता नहीं दिख रही है, क्योंकि उसे इसका स्वभाव पड़ गया है। उसके आसपास का वायुमण्डल भी इन घृणित विचारों से दूषित हो रहा है। पर बाहर के लोगों को यूरोप में फैले हुए इस विष का कुछ अनुभव हो रहा है। बाहर के लोग अब यह समझने लगे हैं कि जबतक साम्राज्यवाद का तत्व, जो मनुष्यजाति और प्रजातन्त्र का विरोधी है, न मिटाया जावेगा, तब तक संसार के प्रकाशमय भविष्य की आशा करना व्यर्थ है। इसके साथ ही साथ यदि राष्ट्रीयता के दानवी भावों का नाश न किया जावेगा तो समझ लेना चाहिये कि सब राष्ट्रों का अन्त निकट ही है। संसार की भलाई और मानव जाति की शान्ति के लिये अब राष्ट्रीयता के विशुद्ध अर्थ के प्रचार की आवश्यकता है; उसमें से स्वार्थ की गंध को निकाल देने की जरूरत है। अब राष्ट्रीयता के भावों में उदारता लाने की आवश्यकता है। शासितों की इच्छा के अनुसार शासन-प्रणाली केवल यूरोपही में नहीं, बलिक संसार के सभी देशों में प्रचलित होनी चाहिये। इस प्रकार की शासन-प्रणाली के

"हे ईश्वर, उनके दुःख का हरएक निःश्वास रात्रि की तेरी गुप्त गम्भीरता में प्रतिध्वनित होता है और उनका प्रत्येक अपमान उस महान स्तब्धता में जमा हो रहा है।

—और कल का दिन उनका है।

"हे सूर्य, इन खून झरते हुए हृदयों पर उदय हो और प्रातःकाल के खिलते हुए पुष्पों की तरह उन्हें विकसित कर-मशाल के सदृश अभिमान के आमोद-प्रमोद-रूपी अंधकार को को धूल में मिला दे।"

रवीन्द्रनाथ भारतवासियों की पीठ ठोककर उन्हें आश्वासन देते हैं कि वे अपनी वर्तमान अधोगति से लज्जित न हों—वे खूब आनंदित रहें। वे कहते हैं—

"मेरे भाइयो, घमण्डी और शक्तिशाली के सामहने सादगी का सफेद अंगरखा पहिनकर खड़े रहने में लज्जित मत हो। तुम्हारा मुकुट नम्रता का और तुम्हारी स्वाधीनता आत्मिक स्वाधीनता हो। तुम अपनी गरीबी के विशाल खाली मैदान पर ईश्वर के सिंहासन की रचना करो और यह जान लो कि जो प्रचण्ड है वह महान नहीं है तथा घमण्ड अमर नहीं है।"

ऊपर के अवतरणों को पढ़कर कई लोग कदाचित यह कह सकते हैं कि रवीन्द्रनाथ राष्ट्रवादी नहीं हैं और राष्ट्र सेवा को वे बुरी समझते हैं। परन्तु इस तरह से मत बना लेना ठीक

दसवाँ अध्याय।

रवीन्द्रनाथ के दार्शनिक विचार।

रवीन्द्रनाथ के मतानुसार सच्ची अंतर्दृष्टि प्राप्त करनाही धर्म का प्रधान चिन्ह है। यह अंतर्दृष्टि तब ही प्राप्त हो सकती है, जब हम अपनी आत्मा का इतना अधिक विकास करलें, कि हमारे हृदय में सारे विश्वके लिये स्थान हो जावे। आत्मा का यह विकास लाखों—करोड़ों रुपयों के धन कमाने से नहीं, राज्याधिकार बढ़ जाने से नहीं, पर अनन्त में अपने आपको तन्मय कर देने से होता है। आत्मविकास की सिद्धि के लिये अपने व्यक्तित्व को भूल जाने की आवश्यकता है। उपनिषद् कहते है कि" मनुष्य ज्यों ज्यों त्याग करता जावेगा, त्यों त्यों उसकी आत्मिक सम्पत्ति बढ़ती जावेगी और उसकी आत्मा का विकास होने लगेगा।" हमारा उस सर्वव्यापी अनन्त तत्व से कितना मेल है, यह बात हमारे उस दिव्य आनंद से प्रगट होती है जो हमें त्याग से प्राप्त होता है। जब हम अपने क्षुद्र व्यक्तित्व को भूलकर उस अनन्त में लीन हो जाते हैं, तबही हमें जीवन की एकता का अपूर्व आनन्द मिलता है। आध्यात्मिक

तथा आत्मिक सिद्धि त्याग में रहती है। हम संसार को तबही जीत सकते है, जब हम उसके विषय में चिन्ता करना छोड दें। आत्मत्याग ही आत्मानुभव का मार्ग है। आत्मत्याग से पूर्ण प्रेम और अनन्त ज्योति का मार्ग मिलता है और स्वार्थ-मय आत्मा दिव्य-ज्योतिमय आत्मा मे परिणत होने लगती है। कहा जाता है कि मनुष्य ईश्वर को नही देख सकता और वह ईश्वर में नहीं रम सकता। ठीक है। वह जब तक मनुष्य बना रहता है, तब तक ईश्वर का दर्शन नहीं कर सकता। जब वह ईश्वर का दर्शन कर लेता है, तब वह मनुष्य नही रहता, किन्तु दिव्यात्मा हो जाता है। फिर वह अपने क्षुद्र व्यक्तित्व को भूलकर उस अनंत ज्योतिमय दिव्य प्रकाश मे लीन हो जाता है और सारा विश्व उसे ईश्वरमय दिखने लगता है। सर्वव्यापी प्रेम उसके व्यक्तित्व और अहंकार पर अधिकार जमा लेता है। वह अपने तन, मन और आत्मा को उस प्रेम-सागर पर-मात्मा पर समर्पण कर देता है। इस समय की स्थिति को रवीन्द्रनाथ ने गीताञ्जलि, मे बड़ी दिव्यता से इस तरह प्रगट किया है—

"जब मैं तेरे साथ खेलता था, तब मैंने कभी नहीं पूछा कि तू कौन है। मुझमे न तो संकोच था और न भय-मेरा जीवन प्रचण्ड क्रीड़ामय था।

प्रभात-समय तू मुझे सखा की भाँति निद्रा से उठाता था और मुझे इस खेत से उस खेत दौड़ाता फिरता था।

उन दिनों मे मैं उन गीतों का अर्थ समझने की कोई परवाह नही करता था, जिन्हें तू मुझे गाकर सुनाता था। बस, मेरा कंठ तेरे स्वर मे स्वर मिलाता था और मेरा हृदय स्वर के चढ़ाव उतार पर नाचने लगता था।

अब जब खेल का समय बीत गया है, तब सहसा एक विचित्र दृश्य मेरे साम्हने आता है। यह विश्व अपने सकल नीरव तारादल के साथ तेरे पदकमलों में अपने नयन झुकाए हुए चकित और निस्तब्ध खड़ा है।

नीलाकाश से एक आँख मेरी ओर देखेगी और इशारे से मुझे चुपचाप अपनी ओर बुलावेगी। मेरे लिये कुछ शेष न रहेगा और तेरे चरणतल में मुझे निरी मृत्यु ही मिलेगी।

मैं आकारों के समुद्र में इस आशा से गहरी डुबकी मारता हूँ कि निराकार का पूर्ण मोती मेरे हाथ आ जावे। अब मैं इस कालजर्जरित नौका मे बैठकर घाट–घाट नही फिरूँगा। अब वे पुराने दिन बीत गये, जब लहरों पर थपेड़े खाना ही मेरा खेल था।

अब मैं उत्सुक हूँ कि मरकर अमरत्व में लीन हो जाऊँ। मैं अपनी जीवनरूपी वीणा को वहाँ ले जाऊँगा, जहाँ अथाह गहराई के समीप सभाभवन में तालध्वनि–रहित गान होता है।

मैं इसे निस्तब्धता के गानों में मिलाऊँगी और अन्तिम स्वर निकालने के पश्चात् जब मेरी वीणा शान्त हो चुकेगी तब मैं उसे शान्तिमय के चरणकमलों में समर्पण कर दूँगा।

मैं अपने जीवनभर अपने गीतों के द्वारा तुझे सदा ढूँढता रहा हूँ। वे गीत ही मुझे द्वार द्वार फिराते रहे और मैंने अपने तथा जगत के विषय में जो कुछ अनुभव तथा अन्वेषण किया है, वह सब इन्हींकी सहायता का फल है।

मैंने जो कुछ सीखा है, वह सब मुझे इन्हीं गीतों ने सिखाया है। उन्होंने मुझे गुप्त पथ दिखलाकर अपने हृदय-रूपी क्षितिज पर बहुत से तारों का दर्शन करवाया है।

वे सदा मेरे सुखदुःखरूपी देश के रहस्यों के पथ-प्रदर्शक बने और उन्होंने मेरी यात्रा के अन्त में सन्ध्या-समय, न जाने, किस राजभवन के द्वार पर मुझे लाकर खड़ा कर दिया। ऐ मेरे ईश्वर, मेरी सारी इन्द्रियाँ एक ही प्रणाम में तेरी ओर लग जावें और इस संसार को तेरे चरणों पर पड़ा जानकर उसमें संसर्ग करें।

जैसे सावन का मेघ बिना बरसे हुए जल के भार से नीचे झुक जाता है, वैसे ही मेरा सारा मन एक ही प्रणाम के करने से तेरे द्वार पर अति नम्र हो जावे।

मेरे सब गीतों के विविध रागों को एक धारा में एकत्र होने दे और एक ही प्रणाम में शान्तिसागर की ओर प्रवाहित होने दे।

जैसे घर के वियोग से व्याकुल हंसों का समूह रातदिन अपने पहाड़ी घोसलों की ओर उड़ता हुआ लौटता है, वैसे ही मेरी आत्मा को एक ही प्रणाम में अपने सनातन वास-स्थान की यात्रा करने दे।"

कितने अलौकिक और दिव्य विचार है! ऐसी स्थिति को प्राप्त आत्मा के कितने लोकोत्तर हार्दिक उद्गार हैं! जो आत्माएँ अत्यन्त विकसित अवस्था पर पहुँचकर उस अनन्त ज्योति का अनुभव कर रही हैं, उन्हीं के हृदयतल से ऐसे दिव्य उद्गार निकल सकते हैं। इन लोकोत्तर उद्गारों में क्या भाव प्रगट होते हैं? इनमें यह दिखलाया गया है कि ब्रह्म-ज्ञानी आत्मा की स्थिति कैसी होती है, वह कितना अलौ-किक आनंद प्राप्त करती रहती है और किस तरह वह अपने-को उस अनंत में मिला देती है। इसके अतिरिक्त इन उद्गारों में कवि ने यह दिखलाया है कि उच्चातिउच्च सुख की स्थिति मृत्यु में नहीं—पूर्णता में है। जब हम आत्मा की ऐसी दिव्य स्थिति प्राप्त कर लेंगे, जहाँ न तो अन्धकार है और न धूल है, तबही हम उस अलौकिक प्रकाश को देख सकेंगे। आत्मा पर चढ़ा हुआ मैल जब निकल जावेगा और

स्थायित्व होने के मार्ग में आजकल रंग और जाति की जो बाधाएँ उपस्थित की जाती है उन्हें दूर करना चाहिये। इनके दूर हुए बिना समाज मे कभी स्थायी शान्ति नहीं हो सकती। सच्चा प्रजातन्त्रवाद वही है जो यह प्रतिपादित करता है कि जैसे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य पर अत्याचार न करे वैसेही एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर भी अत्याचार न करे। आजकल यूरोप व्यक्तियों के सर्वोत्कृष्ट विकास का जिस प्रकार पक्ष ग्रहण कर रहा है वैसे ही उसे संसार के सब राष्ट्रों के विकास का पक्ष ग्रहण करना चाहिये। व्यक्ति की तरह प्रत्येक राष्ट्र को भी आत्म-विकास का स्वतन्त्र अवसर मिलना चाहिये। निर्बल और सबल सभी राष्ट्रों को तरक्की का मौका एक-समान मिलना ही चाहिये। जब ऐसा किया जावेगा, तब ही संसार मे स्थायी शान्ति की कुछ आशा की जा सकती है।

आजकल के राष्ट्र रोगयुक्त और सुसंगठन-रहित दशा मे हैं। युद्ध इस रोग का बाहरी लक्षण है। प्लेटो ने ठीक कहा है कि युद्ध तब ही होते हैं जब राष्ट्रों को भीतर ही भीतर कोई बीमारी हो जाती है। इस कथन का यह अर्थ भी हो सकता है कि यह बीमारी जितनी गहरी होगी उतने ही भीषण युद्ध भी होंगे। आधुनिक यूरोपीय राज्यों मे बड़ी जबरदस्त बीमारी घुसी हुई है और वह यह है कि वे यान्त्रिक आदर्श के वशीभूत हो रहे हैं। अपने आधीन तथा अन्य निर्बल राष्ट्रों को

मनुष्य का निज आत्मा है—वह आध्यात्मिक प्राणी है—उसके व्यक्तित्व का भी कुछ मूल्य है। पर वहाँ तो राष्ट्र के आगे मनुष्य को अपने व्यक्तित्व की बलि चढ़ा देनी पड़ती है। राष्ट्र के व्यक्ति मशीन की तरह अपना काम करते हैं। राष्ट्रवाद से व्यक्तिवाद दबता गया है। यूरोप में राष्ट्र की कल्पना ज़ोर पर है। यद्यपि राष्ट्र व्यक्तियों ही से बना रहता है तथापि उसमें अधिकांश व्यक्तियों की सम्मति के सामहने कुछ व्यक्तियों को अपने विचार दबाने पड़ते हैं। मान लीजिये कि जर्मनी का राष्ट्र युद्धप्रिय है। इस दशा में जिन लोगों से वह राष्ट्र बना है उनमें बहुत से युद्धप्रिय हो सकते हैं, पर यह सम्भव नहीं है कि वहाँ के सभी मनुष्य युद्धप्रिय हों। फिर इन युद्धविरोधी लोगों को भी, अपने विचारों के विरुद्ध राष्ट्र के लिए युद्धप्रिय होना पड़ता है। इन्हें अपनी आत्मा के विरुद्ध काम करना पड़ता है। अर्थात् राष्ट्र के आगे इन्हें अपने व्यक्तित्व को एक ओर रख देना पड़ता है और अन्धे होकर राष्ट्र के पीछे पीछे चलना पड़ता है।

यह सब होते हुए भी रवीन्द्रनाथ यूरोप के भविष्य के लिये निराश नहीं हैं। उनका मत है कि यूरोप में समय समय पर ऐसे महान पुरुष उत्पन्न होते रहे हैं जिन्होंने रंग और जाति का ख्याल न कर सारी मानव जाति की स्वाधीनता के लिये आवाज़ उठाई है और जो सैनिकता को धिक्कार देते रहे हैं।

इससे यह बात प्रगट होती है कि यूरोप में अभी अविनाशी जीवन के जल का झरना सूखा नहीं है। वह फिर नया जन्म प्राप्त करेगा। इसके सिवा इस युद्ध के भावी फलों के लिये भी रवीन्द्रनाथ आशावादी हैं। उनका विश्वास है कि युद्ध केवल विनाशात्मक ही नहीं होता, वह निर्माणात्मक भी होता है। उनका खयाल है कि गत यूरोपीय युद्ध के परिणाम में संसार में एक नये युग का प्रादुर्भाव होगा और मानवी आत्मा के लिये स्वाधीनता तथा विकास का पथ अधिक सुलभ हो जावेगा। इस महायुद्ध में बहनेवाली रक्त की नदियों में स्नान करनेवाले यूरोप के पापों का कुछ न कुछ प्रायश्चित्त अवश्य हो जावेगा, उनकी बुद्धि बहुत कुछ ठिकाने आ जावेगी। वह समझने लगेगा कि झूठे आदर्श का अनुकरण करने से संसार में कितनी भयानकता उपस्थित हो जाती है। इससे यूरोप को मानवी प्रेम और विश्वबंधुत्व का महत्त्व मालूम होने लगेगा। जो लोग इस युद्धरूपी नरक-ज्वाला से निकले हैं उनकी रुचि अब प्रेम-रूपी स्वर्ग की ओर जाने की होगी।

रवीन्द्रनाथ कहते हैं, कि अब यूरोप का इसीमें भला है कि वह अपनी परिस्थिति के अनुसार पूर्वी आदर्शों का अनुसरण करे। अर्थात् वह जड़वाद का पूजक होने के बदले आत्मिक प्रेम, आत्मिक सौन्दर्य और आत्मिक स्वाधीनता का पुजारी बने तथा अपनी आत्मा में सबके लिये स्थान रखे। एक

प्राचीन ग्रन्थकार ने इस सम्बन्ध में बड़े ही दिव्य भाव व्यक्त किये हैं—

"मैं अपने घर के कोने मे अकेला बैठा बैठा यह विचार कर रहा था कि किसी पाहुने के लिये इसमें बहुत कम जगह है; पर जब अवर्णनीय आनंद के द्वारा दरवाजा खुला तो मालूम हुआ कि यहाँ पाहुने के लिये और सारी दुनिया के लिये काफी जगह है"। कितने उच्चतम भाव है! आत्मिक विकास के कितने उत्कृष्ट उद्गार है!!

भारत पूर्वी देशों का आदर्श-प्रतिनिधि है। भारत ने प्रभुत्व और व्यापार की आकांक्षा से कभी अन्य देशों पर हमला नहीं किया। भारत इसके लिये गर्व कर सकता है कि उसका आदर्श सदा से सौन्दर्य, सत्य, प्रेम और अनन्त तत्व रहा है। रवीन्द्रनाथ कहते है कि यदि पश्चिमीय राष्ट्र अपनी मुक्ति चाहते है तो उन्हें भी इन्हीं आदर्शों का अनुकरण करना चाहिये।

एक कवि कहता है—

"तेरे प्रकाश और आनंद की किरणे संसार की आत्मा को मुक्तिप्रदान करने के लिये पूर्व में छिपी हुई हैं।"

बात सच है, संसार में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिये और संसार को इस महायुद्ध के समान विपत्तियों से बचाने के लिये उसके आध्यात्मिक पुनसंगठन की

आवश्यकता है । इसके लिये हृदय को बदलने की आवश्य-कता होगी । समस्त राष्ट्रों को अपने हृदय से रागद्वेष, लोभ, मत्सर आदि दुर्गुणों को निकालकर प्रेम, सहानुभूति, उदा-रता आदि सद्गुणों को उसमें स्थान देना होगा । सब राष्ट्रों को यह मानना होगा कि सारा विश्व एक कुटुम्ब के तुल्य है और भिन्न भिन्न राष्ट्र इसके सदस्य हैं । सबको इस सारे विश्व-रूपी कुटुम्ब की भलाई के लिये काम करना चाहिये । जब सारे राष्ट्रों की ऐसी उदार भावना हो जावेगी—जब सारे राष्ट्रों में बंधुत्व का तत्व काम करने लगेगा—तब लड़ाई-झगड़े के लिये कोई अवसर ही नहीं रह जावेगा । रवीन्द्रनाथ मानव जाति के ऐक्य के उच्चतम आदर्श को प्रगट करते हैं और सारी मानवजाति के कल्याण की कामना रखते हैं । यदि उनके बतलाये हुए तत्वों पर अमल होने लगे तो जो अन्तर्राष्ट्रीय एकता स्थापित होगी वह राष्ट्र की संकीर्ण बाधाओं को तोड़ डालेगी और सारे संसार में मधुरता-मयी शान्ति का साम्राज्य स्थापित कर देगी । फिर संसार में जिस सभ्यता का साम्राज्य होगा उसमें विश्व-ऐक्य और जगदात्मा ईश्वर के प्रेम की अलौकिक भावना रहेगी । फिर संसार यह जानेगा कि कोई किसी का मालिक नहीं है, बल्कि सब भाई-भाई हैं । फिर किसी राष्ट्र की प्रभुता एक दूसरे पर न रहेगी; सब राष्ट्र बंधुत्व के भावों से सञ्चालित होंगे । इस दशा में यदि एक राष्ट्र राजनैतिक दृष्टि से ऊँचा होगा

तो दूसरा सामाजिक दृष्टि से और तीसरा धार्मिक दृष्टि से । सब समभाव में महान रहेंगे और जीवन की एकता का मधुर संगीत सारे संसार में सुनाई देने लगेगा । सब राष्ट्र पवित्र उद्देश से प्रेरित रहेंगे और इस प्रकार सारे संसार में पवित्रता का गंगा-प्रवाह होने लगेगा । हरएक राष्ट्र सारे विश्व के विकास के लिये अपनी ओर से कुछ न कुछ देता रहेगा और अपने विकास के लिये उससे कुछ न कुछ लेता रहेगा । तब स्वनिर्वाह के लिये एक राष्ट्र को दूसरे से लड़ने की आवश्यकता ही न रहेगी । विश्वबंधुत्व की खोई हुई भावना का फिर उदय होगा । सारा संसार एक ऐसे स्वतन्त्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्य में परिणत हो जावेगा जिसका पाया स्वार्थत्यागी और आत्मोत्सर्गपूर्ण राष्ट्रीयता पर रहेगा । स्वार्थ व्यक्तियों की तरह राष्ट्रों के लिये भी अपमान-कारक समझा जावेगा । यह सिद्धान्त अमानुषी समझा जावेगा कि राजनीति में नीतिमत्ता की जरूरत नहीं है । राज्य पूर्णतया व्यक्तियों की इच्छा के अनुसार चलाया जावेगा । यह धारणा पक्की हो जावेगी कि राज्य ही अन्तिम ध्येय नहीं है—वह नैतिक नियम से ऊँचा नहीं है । इन्हीं दिव्य भावनाओं के कार्यरूप में परिणत होने से सच्चे आध्यात्मिक प्रजातन्त्र का जन्म होगा । रवीन्द्रनाथ की हार्दिक आकांक्षा है कि संसार में इस आध्यात्मिक प्रजातन्त्र शासन की स्थापना करने के लिये लोगों को अभी से तैयारी करनी चाहिये । यह आध्यात्मिक प्रजा-

न्त्र सारे संसार का और इस में सारी मानवजाति का बराबर बराबर हिस्सा रहे। ऐसा हुए बिना स्वार्थ की नींव पर खड़े किये हुए राष्ट्र-संघों से भी स्थायी शान्ति न हो सकेगी, बल्कि संसार को और भी नये नये तथा भयंकर संकटों में फँसना पड़ेगा।

हम ऊपर कह चुके हैं कि रवीन्द्रनाथ स्वार्थमय पाश्चिमात्य राष्ट्रीयभावों के प्रति घृणा करते हैं। कोई उनसे यह पूछ सकता है कि वे ऐसा क्यों करते हैं। कोई यह भी कह सकता है कि राष्ट्रीयता के भावों से घृणा करने ही के कारण आज भारत की यह अधोगति हुई है। परन्तु रवीन्द्र इससे सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि "वह धूल, जिस में भारतीय लोग अवनत होगये हैं, उन ईंटों से अधिक पवित्र है जिनसे हमारे सामाजिक घमण्ड और शक्ति के महल बनते हैं। यह धूल स्थूल जीवन, सौन्दर्य और पूजा से हरी-भरी है।

"हे ईश्वर, जो लोग अपने पैरों के नीचे क्षुद्र जीवों को कुचलकर अभिमान के पथ पर चलते हैं और पृथ्वी की कोमल हरियाली को पैरों के रक्तमय चिन्हों से दूषित करते हैं, उन्हें आनंद मनाने दे और तुझे धन्यवाद देने दे, क्योंकि आज का दिन उनका है। पर मैं तेरा इसलिये कृतज्ञ हूँ कि मेरी किस्मत उन अवनत आत्माओं के साथ है, जो शक्ति के बोझ को सहन कर रही हैं, अन्धकार में अपना मुंह छिपाती हैं और दीर्घ निःश्वास लेती हैं।

जब वह बिलकुल विशुद्ध और दिव्य हो जावेगी तब ईश्वरी किरण की पवित्र आभा उसमें झलकने लगेगी। फिर आत्मा को अनंत सुख, अनंत सौन्दर्य, अनंत प्रेम और अनंत एकता का दिव्य अनुभव होने लगेगा। फिर सान्त अनन्त में मिल जावेगा। फिर बाहरी और भीतरी सब बातें आकाश की तरह एक हो जावेंगी और सान्त तथा अनन्त का अपूर्व मेल हो जावेगा। तब आत्मा दर्पण की भांति शुद्ध होकर चमकने लगेगी और अमर जीवन का अनुभव होने लगेगा। [illegible] मेरे-तेरे को भूलकर विश्वव्यापी प्रेम और अनन्त सौन्दर्य का अनुभव करने लगेगी। जिस प्रकार साधारण मनुष्य अपने अभिन्न-हृदय मित्र से प्रेम करता है, वैसे ही वह आत्मा समस्त चराचर सृष्टि के प्राणियों के प्रति प्रेम करने लगेगी। जब संसार में ऐसी आत्माएँ होने लगेंगी, तब इसकी स्थिति स्वर्ग से भी बढ़कर सुखदायिनी हो जावेगी और चारों ओर प्रेम का विशाल समुद्र लहराने लगेगा। अन्त में [illegible] परमात्मा में लीन हो जावेगी, हमारा अहंकार नष्ट हो जावेगा और हमारी इच्छा ईश्वरी इच्छा में परिणत हो जावेगी। ये सब बातें तभी होंगी, जब जीवन पूर्णता की अवस्था पर पहुँचेगा। मनुष्य अपने भीतर निवास करनेवाले अनंत की सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है और अंत में उसमें एक-मय हो जाता है। जब तक उसके इस उद्देश की सिद्धि नहीं होती तब तक वह संसार के मायाजाल में पड़ा हुआ संसार-

चक्र में घूमता रहता है। जब इस उद्देश की सिद्धि हो जाती है, तब मनुष्य के व्यक्तित्व की यह झूठी भावना आपही आप नष्ट हो जाती है, जो उसे ईश्वर से अलग रखती है। रवीन्द्रनाथ ने 'गीताञ्जलि' में कहा है—

"तुझे जान लेने पर न तो कोई परकीय रहता है और न दरवाजा ही बन्द रहता है। जब आत्मा की ऐसी स्थिति हो जाती है तब उस मनुष्य को मृत्यु का कोई डर नहीं रहता, क्योंकि आत्मा के अविनाशी होने का उसे पूरा विश्वास हो जाता है और उसे यह प्रतीति हो जाती है कि मृत्यु अमर आत्मा का कुछ नहीं बिगाड़ सकती। कविवर ने 'गीताञ्जलि' में कहा है—

"उसके स्पर्श से मेरा सारा शरीर और अंग जो स्पर्श से परे हैं पुलकित होगये हैं, और यदि मेरा अन्त यहाँ ही होना है तो भले ही हो।" मतलब यह है, कि अमरत्व का समुज्वल प्रकाश ऐसे महात्मा को प्रकाशमान कर देता है और उसके अंतःकरण में विश्वव्यापी संगीत की ध्वनि गूँजने लगती है। उसे अनन्त यौवन और शक्ति प्राप्त होती है और वह सारे संसार को प्रकाश से भर देता है।
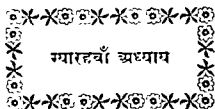
रवीन्द्रनाथ और पुनर्जन्म।

हिन्दू तत्वज्ञानियों की तरह रवीन्द्रनाथ भी व्यक्तियों के क्रम-विकास को मानते हैं। आपका मत है, कि विकास पाते पाते मनुष्य पूर्णता पर पहुँचता है, और इस बीच में उसे कई जन्म धारण करने पड़ते हैं। रवीन्द्रनाथ ने 'गीताञ्जलि' में क्याही मधुरभाव व्यक्त किया है! वे कहते हैं—

"तूने मुझे अनन्त बनाया है—यह तेरी ही लीला है। तू इस भङ्गुर नाव (शरीर) को बार-बार खाली करता है और नव जीवन से उसे सदा भरता रहता है। मेरी यात्रा में बड़ा अधिक समय लगता है और उसका मार्ग भी लंबा है।

"मैं यात्रा के लिये प्रकाश की प्रथम किरण के रथ पर निकला था और ग्रहों और तारों में, लोक और लोकांतरों में, वनों और पर्वतों में घूम फिरकर मैं अपने भ्रमण के चिन्ह छोड़ आया हूँ।"

पूर्णता की ओर अग्रसर होने के लिये मनुष्य को अपने थके हुए शरीर का परिवर्तन करना पड़ता है और इस परिवर्तन की क्रिया ही मृत्यु है। गीता में कहा है कि "जिस प्रकार पुराने वस्त्रों को बदलकर मनुष्य नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही यह आत्मा पुराना शरीर छोड़कर नया शरीर धारण करती है।" रवीन्द्रनाथ के मतानुसार मृत्यु और कुछ नहीं, उस ओर पूर्ण जीवन की ओर जाने की तैयारी मात्र है।

पुनर्जन्म के लिये उपनिषदों की और रवीन्द्र की राय प्रायः मिलती हुई है। उपनिषदों की तरह रवीन्द्र भी मानते हैं, कि जीवन की दो गतियाँ हैं, पहिली अमर पद प्राप्त कर लेना और दूसरी जन्म-जन्मान्तरों को धारण करते रहना। जब तक मनुष्य संसार में फँसा रहता है, तब तक उसका जीवन सान्त और इन्द्रियगत रहता है और जब तक उसमें स्वार्थ और अहङ्कार बना रहता है, तब तक उसका ईश्वर से मेल नहीं हो सकता—वह परमात्म जीवन को नहीं प्राप्त कर सकता। इन उपाधियों से घिरे रहते हुए भी वह नैतिक जीवन में आ सकता है और यहाँ वह इस परम पद को प्राप्त करने की चेष्टा करता है, पर उसे प्राप्त नहीं कर सकता। वह समीप में पहुँच जाता है, पर ठेठ तक नहीं पहुँच सकता। संसार की उपाधियों में घिरे हुए सान्त प्राणी के लिये इस पद पर पहुँचने के लिये -जर्मन तत्ववेत्ता काण्ट के मतानुसार अनन्त समय की आव-

उत्पन्न होती है। जब तक मनुष्य सान्त और इन्द्रिय-गत जीवन में रहता है, तब तक वह जन्म-जन्मान्तर के चक्र में घूमता रहता है और जन्म-मृत्यु का दास बना रहता है। पर मनुष्य जब अपने अहम्भाव को विश्वव्यापी जीवन में समर्पण कर देता है और जब उस परमात्मा से तन्मयता का अनुभव करता है, तब ही वह मुक्तजीवी होता है और तब ही उसे जीवन के अमर पद का अनुभव होता है। फिर वह जन्म-मरण के पंजे से छूट जाता है और उस जीवन को प्राप्त कर लेता है, जो जन्म-मरण से अतीत है।

कई लोग इस ब्रह्म स्थिति को—इस परम पद को—प्राप्त करने के लिये घरबार छोड़कर जंगल में चले जाने को तथा नाना प्रकार से अपने शरीर को कष्ट पहुँचाने को ही श्रेष्ठ मार्ग समझते हैं। वे लोग शरीर को परम पद की प्राप्ति में बाधा-रूप समझते हैं। पर रवीन्द्रनाथ इससे सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि परम पद को पाने के लिये इन्द्रिय-गत ससार के बखेड़े से भाग जाने की आवश्यकता नहीं है—इन पर आध्यात्मिकता का रंग चढ़ा देने की आवश्यकता है। इनमें हमें डूब न जाना चाहिये। संसार के पदार्थों को हमें आध्यात्मिक और आत्मिक भाव से देखना चाहिये। फिर हमें ये बाधारूप न जान पड़ेंगे। रवीन्द्रनाथ शरीर को आत्मा का कैदखाना नहीं समझते; वे यह नहीं कहते कि ज्यों त्यों कर शरीर से आत्मा का छुटकारा

करना चाहिये। उनका मत है, कि मनुष्य प्रकृति से बद्ध है और मानवी आत्मा शरीर से संलग्न है। इस शरीर के द्वारा आत्मा अपना विकास करती है। प्रकृति बुरी वस्तु नहीं, उसकी भलाई बुराई हम पर निर्भर है। यदि मनुष्य इन्द्रिय-लोलुप हो जावे, स्वार्थी हो जावे, और ईश्वर की ओर ध्यान न दे, तो यही प्रकृति बुरे स्वभाव में परिणत हो जाती है। पर जब हम इसे आत्मा की उच्च सीढ़ी पर पहुँचने का साधन बनाते हैं, तब यह बड़ी उपकारिणी हो जाती है। प्रकृति स्वयमेव नीतिमय है। यदि आत्मिक विकास के लिये इसका उपयोग किया जावे, तो यह बड़े ही काम की चीज हो जाती है। यदि हम यह समझते हैं, कि प्रकृति हमें ईश्वर से भिन्न करनेवाली है, तो समझना चाहिये, कि हम माया-जाल में हैं। जब ईश्वर विश्व के सकल चराचर पदार्थों में विद्यमान है, तो फिर हमें अपने भौतिक शरीर की अवहेलना करने की क्या जरूरत है? आवश्यकता इस बात की है कि हम सब को आत्मिक रंग से रँग दें और अपनी भौतिक दृष्टि को आत्मिक दृष्टि में परिणत कर दें। यह विश्व परमात्मा के सृजनात्मक प्रेम का फल है और इसमें परमात्म ज्योति की झलक दिखनी ही चाहिये। इसे देखने के लिये वे [illegible] आँखों की जरूरत है। यह संसार ईश्वर की [illegible] उसकी सजीव मूर्ति है। यह उसका शत्रु [illegible] को आत्मिक यन्त्र के रूप में भावों के

द्वारा परिणत कर देने की ही आवश्यकता है। इस शरीर को आत्मा के विकास का केवल साधन मानना चाहिये। आत्म-साधन के लिये शरीर को वृथा कष्ट देना ठीक नहीं। रवीन्द्रनाथ 'गीताञ्जलि' में लिखते हैं—

"नहीं, मैं अपनी इन्द्रियों के द्वारों को कभी बन्द न करूँगा। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का सुख तेरे परमानन्द को उत्पन्न करेगा।" वे फिर कहते हैं—

"धूल अपमान पाती है और इसके बदले में पुष्पों को शोभा प्रदान करती है।

यह संसार न तो जगत्कर्ता का भ्रमजाल है और न भूतपिशाच का शाप है। यह एक ऐसी क्रीडाभूमि है, जहाँ हमें अपनी आत्मा को तैयार करना है। यह संसार त्याग किये जाने के योग्य नहीं है। यहाँ हमें अपने सान्त जीवन को अपने उद्देश पर पहुँचा देने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। प्रकृति और समाज वह साधन है, जिससे हम अपनी अनन्तता का प्रकाश कर सकते हैं और चैतन्य की पुकार को सुन सकते हैं। यह सारा विश्व अखण्ड चैतन्य से व्याप्त है। यदि इस बात को जानकर हम संसार के तुच्छ से तुच्छ पदार्थ का निरीक्षण करेंगे, तो हमें आनन्द हुए बिना न रहेगा। इस महान तत्त्व को समझकर हम किसी भी धर्म के अनुयायी

होकर ईश्वर के द्वार पर पहुँच सकते हैं। इस संसार में अनेक रास्ते हैं, जिनसे हम परमात्मा के उस समुज्ज्वल और दिव्य प्रकाश का आनन्द लाभ कर सकते हैं।

"सब से बड़ा दाता, ईश्वर हमारी दृष्टि में सारे विश्व को उद्घाटित कर सकता है। हे प्रभो, तेरे भवन का आदि-अन्त नहीं है और उसे खोजते खोजते मैं तेरे द्वार पर आ पहुँचा हूँ।"

यह सारा विश्व, हमारी यह पृथ्वी स्वर्ग की सामग्री से भरी हुई है। संसार के सकल पदार्थों में सर्वव्यापी चैतन्य की सत्ता है। किसी ग्रीक तत्वज्ञानी का मत है कि यह पृथ्वी और स्वर्ग सुनहरी शृंखला से बद्ध है। इस विश्व में चारों ओर ऐसे द्वार हैं, जिनके द्वारा हम अपनी उच्चतम आध्यात्मिक सिद्धि पर पहुँच सकते हैं। इन द्वारों में आप किसी द्वार को खोल लीजिये, बस, परमात्मा की ओर जाने का मार्ग आपको मिल जावेगा। रवीन्द्र ने गीताञ्जलि में बड़ा उत्कृष्ट भाव प्रदर्शित किया है—

"हरघड़ी, हरकाल, हरदिन और हररात में वह आता है, आता है, नित्य आता है। मैंने अपने मन की भिन्न भिन्न दशाओं में नाना प्रकार के गीत गाये हैं, किन्तु उन सब के सुरों में यही उद्घोषित हुआ है, कि वह आता है, वह आता है, वह नित्य आता है।"

सारांश यह है, कि सब काल और सब स्थानों में उस परमात्मा की सर्वव्यापी सत्ता विद्यमान है। आवश्यकता केवल इस बात की है, कि उसके दर्शन करने के लिये हम शीघ्र अपने मन की तैयारी कर लें—उसका स्वागत करने के लिये हम सदैव तैयार रहें। प्रकृति की चीजों को और सांसारिक घटनाओं को यदि हम उचित दृष्टि से देखने लगें तो वे हमारे आध्यात्मिक और निःस्वार्थ उद्देश्यों की सिद्धि के लिए उपयोगी बन जावेंगी। इसलिये प्राचीनकाल से भारतीय आदर्श की यह श्रेष्ठता रही है, कि उसने प्रत्येक पदार्थ को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा है और उसे ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग को सुलभ करने का साधन बनाने की चेष्टा की है।

रवीन्द्रनाथ ने एक व्याख्यान में कहा था, कि मनुष्य का स्थायी सुख लेने में नहीं—पर उस महान तत्व के देने में—है, जो उससे बड़ा है। सुख उन विचारों के प्रदान करने में है, जो अत्यन्त उच्च और उदार हैं, तथा जो स्वदेश, मानव-जाति और ईश्वर के दिव्यतम विचारों के फैलाने से गर्भित हैं। संसार हमें सदैव यह मौका देता रहता है, कि हम उच्च तत्व के लिये अपना सर्वस्व दे दें। इस प्रकार के आदर्श स्वार्थत्याग में—इस इस प्रकार के स्वार्थरहित आदर्शों में—परमात्मा की दिव्य ज्योति पाई जाती है। उच्च और उदार आदर्श आत्म-ज्ञान का लाभ कराता है। वह हमें स्वार्थी भावनाओं से छुड़ाता

है और हमारे लिये अमरलोक का द्वार खोल देता है। राल्फ-वाल्को-ट्राइन ने कहा है, कि महान आदर्शों में अपने अहम्भाव को भुला देने ही में मुक्ति अर्थात् अखण्ड सुख की प्राप्ति का तत्व है। इस प्रकार के आदर्शों में अपने आपको पूर्णतया भूल जाना चाहिये। फिर देखिये, कैसा दिव्य और स्वर्गीय सुख प्राप्त होता है और आत्म-ज्योति किस प्रकार प्रकाशित हो उठती है! ईश्वर में अपने तन, मन और आत्मा को समर्पण कर देना ही आत्मानुभव है। अपने अहङ्कार और स्वार्थ को लात मारकर परमात्मा में अपने आपको विलीन कर देना ही मानवी जीवन का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है। हमारे भौतिक आदर्श हमारी आत्मा की भूख को सम्पूर्णतया नहीं मिटा सकते। अतएव हमारा आदर्श आत्मिक होना चाहिये, जो हमें पूर्णता की ओर पहुँचा सके और उस अनन्त दिव्य सौन्दर्य से हमारा मेल करा सके। इस दिव्य सिद्धि के लिये—आत्मा की पूर्णता के लिये हमें अपने सान्त आदर्शों को उस अनन्त में परिणत कर देना चाहिये, जिसमें अनन्त सुख, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त शक्ति भरी हुई है।

रवीन्द्रनाथ का मत है कि जिन आत्माओं ने परम तत्व का ज्ञान पा लिया है; जिन आत्माओं ने जीवन की एकता का ज्ञान प्राप्त कर लिया है; जिन आत्माओं को ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो चुकी है और जिन्हें यह बोध हो गया है कि सृष्टि के

सकल चराचर पदार्थ उसी विराट-स्वरूप परमात्मा के अंश हैं, वे आत्माएँ सकल सृष्टि के प्राणियों की सेवा में अपने आपको अर्पण कर देती हैं। वे उस परमात्मा की सेवा का अनुभव मानवी सेवा ही में करती हैं। सारी सृष्टि उन्हें परमात्ममय दिखलाई देती है। उन्हें आत्मिक पवित्रता का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है। वे मानने लगती हैं, कि जिस प्रकार किसी प्रेमी को प्रेमिका के शरीर में कोई अपवित्रता नहीं दिखलाई देती, उसी प्रकार परमात्मा के विराट स्वरूप में-मनुष्यों की इस सृष्टि में-कोई अछूत नहीं है। रवीन्द्रनाथ दुःख प्रगट करते हैं, कि हमारे लिए आत्मिक एकता का आदर्श होते हुए भी हमने अपनी संकुचित सामाजिक प्रथाओं के कारण अपने भाइयों के एक समूह को अछूतों में शुमार कर रखा है। परमात्मा की सृष्टि में अछूत कोई नहीं है। सबमें परमात्मा की ज्योति एकसी वर्तमान है। वह ज्योति जिस प्रकार अनुकूल साधनों के प्राप्त होने से ब्राह्मणों में प्रकाशित हो सकती है, उसी प्रकार हमारे शूद्र कहलानेवाले भाइयों में भी व्यक्त हो सकती है। प्राणियों की सेवा ही ईश्वर-सेवा है, क्योंकि सकल प्राणी परमात्मा के अंश हैं। जो लोग यह समझते हैं, कि केवल ईश्वर की मूर्ति की सेवा ही उन्हें मुक्ति के द्वार पर पहुँचा देगी और प्राणियों की सेवा करने से कोई लाभ नहीं, वे ईश्वर की सेवा के मर्म को और मुक्ति के रहस्य को नहीं समझते।

रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि ईश्वर राजा के मंदिर में नहीं है, चाहे उस मदिर के बनवाने में करोड़ों रुपयों का सोना क्यों न लग गया हो और कीमती उत्सवों के साथ यह ईश्वर को समर्पित भी क्यों न कर दिया गया हो। यदि हजारों मनुष्य-रूपधारी ईश्वर के पुत्र गृह-हीन होकर फिर रहे हैं और ईश्वर से सहायता की प्रार्थना कर रहे हैं, तो ऐसी दशा में ईश्वर इन लाखों-करोड़ों रुपयों की लागत के मन्दिरों से कैसे सन्तुष्ट हो सकता है?

ईश्वर के साक्षात्कार के लिये हमे व्यक्तिगत पवित्रता की अर्थात् अपने मन, वचन, काय और हृदय को शुद्ध रखने की आवश्यकता है। आत्मविकास और आत्म-साक्षात्कार के लिये हमें योग, ज्ञान, भक्ति और कर्म की पद्धतियों को अङ्गीकार करना चाहिये। ईश्वरी साक्षात्कार के लिये जैसे आत्मिक साधन की आवश्यकता है, वैसेही सामाजिक न्याय की भी आवश्यकता है। मनुष्य को मनुष्यत्व के भाव से देखना चाहिये—उसे औजार या यन्त्र समझना ठीक नहीं। दु:ख की बात है, कि आजकल की झूठी सभ्यता ने ईश्वरी साक्षात्कार के मार्ग को बड़ा जटिल कर दिया है। जिन देशों में जड़वाद की प्रधानता है, जहाँ "हावित्जर" तोपों की वृद्धि ही को महत्व दिया जाता है, वहाँ सच्ची सभ्यता टिक नहीं सकती। वहाँ मनुष्य अपने उच्चतम आत्मिक गुणों को खो देता है और वह कीचड़ में बुरी तरह फँस जाता है। वहाँ मनुष्य उस सत्य को भूल जाता है, जो आत्मा में रहता है

और इस तरह वह अपनी आत्मा को भारी नुकसान पहुँचाता है। इससे मनुष्य के विवेक पर काला परदा पड़ जाता है और उसकी गति आध्यात्मिक आत्महत्या की ओर होने लगती है। संसार के आत्मिक विकास के लिये—मानव-जाति के हित के लिये—अपने आत्मिक गुणों और अंतरंग शक्तियों का विकास करने की आवश्यकता है। जब हमारी आत्मिक शक्तियों का विकास हो जावेगा, तब हम मनुष्य-जाति की सेवा करने की उच्चतम शक्ति को प्राप्त कर लेंगे और संसार के सुख की वृद्धि में हम अपनी ओर से कुछ अमूल्य दान दे सकेंगे।

जिस मनुष्य की आत्मा का विकास हो जाता है, वह संसार को त्यागना नहीं चाहता, बल्कि वह संसार को सुधारना चाहता है। वह अपने भीतर निवास करनेवाले दैवी तत्त्व का प्रकाश कर संसार के अज्ञानान्धकार को हटाना चाहता है। उसकी यह आकांक्षा रहती है, कि संसार के मनुष्य अपने हृदय के दिव्य ज्योतिर्मय प्रकाश को देखें और संसार के आत्मिक विकास के लिए उसका उपयोग करें। संसार में जितनी महान आत्माएँ हुई हैं और जिन्होंने संसार में दिव्य ज्योति का प्रकाश फैलाया है, उन्होंने अपनी आत्मा का विकास कर हृदयस्थ दैवी तत्त्व के बल पर ही ऐसा किया है। संसार के उपकार के लिये आत्मोन्नति की सबसे बड़ी आवश्यकता है और वही मनुष्य संसार का सबसे अधिक कल्याण कर सकता है, जिसने पहिले अपनी आत्मा को सुधार लिया हो।

बारहवाँ अध्याय।

रवीन्द्रनाथ का धार्मिक सन्देश।

सुप्रसिद्ध अँगरेज तत्ववेत्ता कार्लाइल का कथन है, कि धर्म ही मनुष्य का जीवन है। हमारे हिन्दू आचार्यों ने तो इस संसार में मानवी आत्मा के विकास के लिये धर्म ही को प्रधान माना है। अब हम यह देखना चाहते हैं, कि रवीन्द्रनाथ के धार्मिक विचार कैसे हैं और उन्होंने संसार को किस प्रकार का धार्मिक सन्देश सुनाया है। रवीन्द्र की प्रकाश-पूर्ण आत्मा से एक उच्च धर्म का प्रवाह हो रहा है। रवीन्द्रनाथ आध्यात्मिक पुरुष हैं; उनकी आत्मा का जैसा उच्चतम विकास हुआ है, वह उनके ग्रन्थों से प्रगट है। रवीन्द्रनाथ के धार्मिक विचार "गीताञ्जलि" और "साधन" नामक ग्रन्थों में विशेष रूप से पाये जाते हैं। "शान्तिनिकेतन" नामक उपदेशों में भी उनके अत्यन्त उच्च और दिव्य विचारों का संग्रह है। उनके धार्मिक विचारों को जानने के लिये आत्मा को उच्च स्थिति में ले जाने की आवश्यकता है।

रवीन्द्रनाथ का धार्मिक सन्देश प्रायः वैसाही है, जैसा यह भारतवर्ष हज़ारों वर्षों से संसार को देता आया है। वे संसार में आध्यात्मिक एकता स्थापित करना चाहते हैं। अतएव स्वभावतः ही उनका सन्देश आध्यात्मिक है। आत्मिक शक्तियों का विकास कर ईश्वरी साक्षात्कार करने को वे धर्म का प्रधान अङ्ग मानते है। रवीन्द्रनाथ की 'गीताञ्जलि' में इस सम्बन्ध मे कितने दिव्य और उत्कृष्ट भाव प्रदर्शित किये गये हैं, इसका पता उसे पढ़ने से ही लग सकता है। इन भावों को पढ़ते पढ़ते आत्मा आनंदसागर मे लीन हो जाती है। इस विषय के उनके विचार यहाँ दुहराये जाते है।

"मेरे प्रियतम, तू अपने आपको छाया में छिपाये सबके पीछे कहाँ खड़ा है? लोग तुझे कुछ नहीं समझते और धूल से भरी सड़क पर तुझे हटाकर तेरे पास से निकल जाते हैं। मैं पूजा की सामग्री सजाकर घटों तेरी बाट जोहती हूँ; पथिक आते है और मेरे फूलों को एक एक करके ले जाते हैं। मेरी डलियाँ प्राय. खाली हो चुकी हैं।

"प्रात.काल बीत गया और दोपहरी भी निकल गई। सन्ध्या के अँधेरे मे मेरे नेत्रो मे नींद आरही है। निज गृहों को जानेवाले मेरी ओर देखते हैं, मुसकुराते है तथा मुझे लज्जित करते हैं। मैं एक भिखारिन लड़की की भाँति अपने मुख पर अंचल डालकर बैठी हूँ और जब वे मुझ से पूछते

रवीन्द्रनाथ का धार्मिक

सुप्रसिद्ध अँगरेज तत्ववेत्ता कार्लाइल क
ही मनुष्य का जीवन है। हमारे हिन्दू आचा
में मानवी आत्मा के विकास के लिये धर्म
है। अब हम यह देखना चाहते हैं, कि रवीन्द्रना
कैसे हैं और उन्होंने संसार को किस
सन्देश सुनाया है। रवीन्द्र की प्रकाश-पूर्ण
धर्म का प्रवाह हो रहा है। रवीन्द्रनाथ अ
उनकी आत्मा का जैसा उन्नतम विकास
ग्रन्थों से प्रगट है। रवीन्द्रनाथ के धार्मिक
ञ्जलि" और "साधन" नामक ग्रन्थों में
जाते हैं। "शान्तिनिकेतन" नामक उप
अत्यन्त उच्च और दिव्य विचारों का संग्रह
विचारों को जानने के लिये
जाने की आवश्य

इन वाक्यों में कविवर रवीन्द्रनाथ ने ईश्वरी मिलन की—परमात्मदर्शन—की उत्कृष्ट जिज्ञासा को प्रगट किया है। जिस आत्मा की लौ उस अनन्त की ओर लगी रहती है, वह उसकी प्रतीक्षा में अपने आपको किस प्रकार भूल जाती है, इसका अत्यन्त उज्ज्वल उदाहरण [illegible] में दिखलाई देता है। इसमें रवीन्द्र ने भक्तजनों व हृदयों की भावनाओं का सच्चा चित्र खींचा है। आगे चलकर 'गीताञ्जलि' में और भी ऐसे भाव प्रगट किये गये हैं।

"एक दिन वह था, जब मैं तेरे लिये तैयार न था, फिर भी, हे मेरे स्वामी, एक साधारण जन की भाँति मेरे बुलाये बिना और मेरे जाने बिना तूने मेरे हृदय में प्रवेश किया और मेरे जीवन के कुछ अनित्य क्षणों पर नित्यता की मुहर लगा दी। आज जब अकस्मात् उन पर मेरी दृष्टि पड़ती है तथा मैं तेरे हस्ताक्षर देखता हूँ तो पता लगता है, कि वे (क्षण) तुच्छ विस्मृत दिनों के हर्ष और शोक की घटनाओं की स्मृति के साथ बिखरे और भुलाए हुए पड़े हैं।

"मुझे लड़कपन के खेल खेलते हुए देखकर तूने घृणा से अपना मुँह नहीं फेरा। तेरे जिन पदों की ध्वनि मैंने अपने क्रीडास्थल में सुनी थी, आज उन्हींकी ध्वनि एक तारे से दूसरे तारे में गूँज रही है।"

हैं, कि तू क्या चाहती है, तो मैं अपनी आँखें नीची कर लेती हूँ और और उन्हें उत्तर नहीं देती।

"हाय, मैं उनसे कैसे कहूँ, कि मैं सचमुच तेरी राह देख रही हूँ और तूने आने का वचन दिया है। लाज के मारे मैं कैसे कहूँ, कि मैंने भेंट के लिए यह दरिद्रता ही रखी है। अहो, मैंने इस अभिमान को अपने हृदय में छिपा रखा है।

"मैं घास पर बैठी हुई आशा-भरे नयनों से आकाश की ओर दृष्टि दौड़ाती हूँ और तेरे अचानक आगमन के वैभव का स्वप्न देखती हूँ। स्वप्न में सब दीपक जल रहे हैं, तेरे रथ पर सुनहरी ध्वजाएँ फहरा रही हैं। लोग मार्ग में यह देखकर अवाक खड़े रह जाते हैं, कि तू फटे-पुराने कपड़ों को पहननेवाली तथा लाज और मान के कारण ग्रीष्मपवन से लता की भाँति काँपनेवाली इस भिखारिन लड़की को धूल से उठाने के लिये अपने रथ से उतरता है और उसे अपने पास बैठाता है।

"परंतु समय बीतता जाता है और तेरे रथ के पहियों की अब तक कोई आवाज सुनाई नहीं देती। बहुत से जुलूस बड़ी धूमधाम और चमक-दमक के साथ निकलते जाते हैं। क्या केवल तू ही सबके पीछे छाया में चुपचाप खड़ा रहेगा? और क्या केवल मैं ही प्रतीक्षा करती रहूँगी तथा व्यर्थ कामना के वशीभूत हो रो रोकर अपने हृदय को जीर्ण करूँगी?"

रवीन्द्रनाथ ने निम्न शब्दों में उस अनंत के साक्षात् दर्शन का बड़ा ही मनोहर चित्र खींचा है—

" उसका रास्ता देखते हुए प्रायः सारी रात बीत गई। मुझे डर है, कि जब मैं थककर सो जाऊँ, तो कहीं वह मेरे द्वार पर अचानक न आजावे। मित्रो, उसके लिये मार्ग खुला रखना—उसे कोई मना न करना।

" यदि उसके पैरों की आहट से मेरी नींद न खुले, तो कृपाकर मुझे मत जगाना। मैं पक्षियों के कलरव और वायु के कोलाहल से प्रातःकालीन प्रकाश के महोत्सव के लिये निद्रा से उठना नहीं चाहता। यदि मेरा स्वामी अचानक मेरे द्वार पर आजावे, तोभी शान्ति से मुझे सोने देना।

" आह, मेरी नींद ! मेरी प्यारी नींद ! तू तो उसी समय विदा होगी, जब वह तेरा स्पर्श करेगा। ऐ मेरे बन्द नेत्रो ! तुम तो अपनी पलकों को उसकी मुसकुराहट की ज्योति में उसी समय खोलना, जब वह मेरे साम्हने निद्रा में आनेवाले स्वप्न के समान आकर खड़ा हो जावे।

" उसे मेरी दृष्टि के सन्मुख सब ज्योतियों और सब रूपों में अग्रगण्य के रूप में आने दो। मेरी जागृत आत्मा में आनंद की सबसे पहिली तरंग उसके कटाक्ष से उत्पन्न होने दो। ज्योंही मुझे अपने स्वरूप का ज्ञान हो, त्योंही मुझे उसके रूप का ज्ञान होने दो।"

"हे मेरे ईश्वर, मेरे जीवन के लबालब भरे पात्र से तू कौनसा दिव्य रस पान करना चाहता है ?

"हे मेरे कवि, मेरी आंखों से अपनी सृष्टि को देखने और मेरे कानों के द्वार पर खड़े होकर अपने ही अविनाशी मधुर गान को चुपचाप सुनने में क्या तुझे आनन्द आता है ?

"तेरे जगत से ही मेरे मन में शब्द-रचना होती है और तेरे आनन्द से उसमें मधुर संगीत उत्पन्न हो रहा है। तू प्रेमवश होकर अपनेको मुझे प्रदान कर देता है और फिर मुझमें अपने ही पूर्णानन्द का अनुभव करता है।"

रवीन्द्रनाथ ने आध्यात्मिक एकता तथा विश्वव्यापी जीवन का भी बड़ा ही मार्मिक और हृदय-स्पर्शी चित्र खींचा है। वे कहते हैं--

"जीवन की जो धारा मेरी नसों में रात-दिन बहती है, वही सारे विश्व में वेग से बह रही है और ताल-सुर के साथ नृत्य कर रही है।

"यह वही जीवन है, जो पृथ्वी पर असंख्य तृणों के रूप में सहर्ष प्रगट हुआ करता है और फूल-पत्तों की तरङ्गों में आविर्भूत होता है।

"यह वही जीवन है, जो जीवन-मृत्युरूपी समुद्र के ज्वार-भाटे के पालने में हिलोरें मारता है।

आनन्द उस परम पिता परमात्मा के संयोग में है। इस दिव्य संयोग का वर्णन करते हुए रवीन्द्रनाथ "गीताञ्जलि" में कहते हैं—

"मैं आकारों के समुद्र में इस आशा से गहरी डुबकी मारता हूँ, कि निराकार का पूर्ण मोती मेरे हाथ आजावे।

"अब मैं इस काल–जर्जरित नौका में बैठकर घाट–घाट नहीं फिरूँगा. अब वे पुराने दिन बीत गये, जब लहरों पर थपेड़े खाना ही मेरा खेल था।

"अब मैं उत्सुक हूँ, कि मरकर मैं अमरत्व में लीन हो जाऊँ।

मैं अपनी जीवनरूपी वीणा को वहाँ ले जाऊँगा, जहाँ अथाह गहराई के समीपवर्ती सभा-भवन मे ताल-ध्वनि–रहित संगीत उमड़ता है।

"मैं इसे नित्यता के रागों में मिलाऊँगा और जब अन्तिम स्वर निकलने के पश्चात् मेरी वीणा शान्त हो चुकेगी, तब मैं उसे शान्त वीणा को शांतिमय के चरणों मे समर्पण कर दूँगा।"

इसके आगे चलकर रवीन्द्रनाथ दिखलाते हैं कि प्रेम' भक्ति, त्याग, सरलता और आत्मसमर्पण ही से परमात्मा का दिव्य संयोग होता है। बाहरी ठाट–बाट से इस संयोग में बाधा उपस्थित होती है।

"मेरे गीत ने अपने अलंकारों को उतार डाला है। इसे वस्त्रालंकार का अहंकार नहीं है। आभूषण हमारे संयोग को नष्ट कर देते, वे तेरे और मेरे बीच मे आजाते और उनकी झंकार मे तेरे धीमे स्वर की गुनगुनाहट दब जाती।

"तेरे सामने मेरा कविपन का मिथ्या गर्व लज्जा मे मिट जाता है। कवीन्द्र, मैं तेरे चरणारविन्दों मे बैठ गया हूँ। बस, मुझे अपने जीवन को बाँसुरी की भाँति तेरे निमित्त राग-रागिनियों से भरने के लिये सरल और सीधा बना लेने दे"। केवल ईश्वरी प्रेम के लिये तो रवीन्द्रनाथ ने बड़े ही उत्तम उद्गार निकाले हैं—

"संसारी जनों का प्रेम मुझे सब तरह से बाँधने का यत्न करता है और मेरी स्वतंत्रता को छीन लेता है। परंतु तेरा प्रेम जो उनके प्रेम से बढ़कर है, निराला है—वह मुझे दासता की शृंखला मे नहीं बाँधता, किन्तु मुझे स्वतंत्र रखता है। वे मुझे (इस भय से) अकेला नहीं छोड़ते, कि कहीं मैं उन्हें भूल न जाऊँ। (इस एकाग्रता के अभाव का परिणाम यह है कि) एक एक करके दिन बीतते जाते हैं और तू दिखाई नहीं देता। यदि मैं अपनी प्रार्थनाओं में तुझे नहीं पुकारता और अपने हृदय में तुझे धारण नहीं करता, तब भी तेरा प्रेम मेरे प्रेम की प्रतीक्षा करता है।"

तात्पर्य यह है कि रवीन्द्रनाथ प्रेम तथा अपनी इच्छा को ईश्वरी इच्छा में परिणत कर देने को आत्मज्ञान का प्रधान साधन समझते हैं। वे हमें सिखलाते हैं कि हम प्रेम के स्वर्ग में तब ही पहुँच सकते हैं, जब हम ईश्वरी सृष्टि के प्राणियों से प्रेम करें।

रवीन्द्रनाथ ने गीताञ्जलि के सिवा अपने कई अन्य ग्रन्थों में भी धार्मिक विचार प्रगट किये हैं। इन सबका निष्कर्ष यह है, कि मनुष्य में जो अनन्त तत्व भरा हुआ है उसे पहिचानना और उसका विकास करना, यही मनुष्य का अन्तिम ध्येय होना चाहिये। रवीन्द्रनाथ इसे ही धर्म कहते हैं। धर्म का अर्थ है स्वभाव, सत्य या तत्व। मनुष्य का तत्व अनन्त है; उसका धर्म इस अनन्त तत्व को प्राप्त करना है, जो उसमें छिपा हुआ है। मनुष्य को अपनी संकुचित सीमा को त्यागकर उस अनन्त तत्व में प्रवेश करने का प्रयत्न करना चाहिये। हममें जो अनन्त तत्व है, उसे पहिचानने ही में हमारे मानवी जीवन की सार्थकता है। ईश्वरी प्राणि-सृष्टि में मनुष्य क्यों उत्कृष्ट माना गया है? इसलिये, कि उसमें आत्मोन्नति करने की शक्ति भरी हुई है—वह अपनी शान्त अवस्था के पार जाकर उस अनन्त से मिलने का सामर्थ्य रखता है। यदि वह अपने इस सामर्थ्य का उपयोग नहीं करता है, तो वह अपने हाथों

से अपने दिव्य विकास के मार्ग को रोकता है। मनुष्य की मुक्ति इसीमें है कि वह अपने अहंभाव के परे चला जावे; क्योंकि अहंभाव ही के त्याग से मनुष्य को उस अनन्त की प्रतीति होती है। अहंभाव को त्यागने में—अपने प्रिय स्वार्थों को छोड़ने में—मनुष्य को कष्ट होता है; इसीलिये कठोपनिषद् में कहा है कि ब्रह्मज्ञान तलवार की धार की तरह कठिन है। मनुष्य के भीतर जो अनन्त तत्व है, वह वैसे ही है, जैसे तिल में तेल और दही में घी रहता है।

तिल में से तेल निकालने के लिये जैसे उन्हें पीसना जाता है और दही में से घी निकालने के लिये जैसे वह बिलोया जाता है, उसी प्रकार से अनंत को प्रगट और प्राप्त करने के लिये कई प्रकार की कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। हमें इन्द्रियों के साथ युद्ध कर आध्यात्मिक विजय प्राप्त करनी पड़ती है।
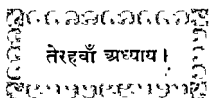
तेरहवाँ अध्याय।

पौर्वात्य और पाश्चिमात्य सभ्यता।

मनुष्य और विश्व।

कविसम्राट सर रवीन्द्रनाथ ने पाश्चिमात्य और पौर्वात्य सभ्यता का जितना उत्तम विश्लेषण किया है, कदाचित ही वैसा किसी ने किया होगा। आपने बतलाया है, कि पाश्चिमात्य सभ्यता का जन्म ग्रीस * शहर की दीवालों के भीतर हुआ है अर्थात् नगर के परिश्रम और झंझटमय जीवन में पाश्चिमात्य सभ्यता का उदय हुआ है; अतएव वह जड़ है—पत्थर, ईंट और मिट्टी की बनी हुई है—उसमें आत्मिक भाव का अभाव है और सांसारिक ऐश्वर्य ही उसका एक-मात्र लक्ष्य है। इसी से उसने "विभक्त करके राज्य करने" के तत्व को अङ्गीकार कर रखा है। उसने विश्वबन्धुत्व और मानवी एकता के उदार

* इतिहासवेत्ता इस बात को अच्छी तरह जानते हैं, कि पाश्चिमात्य सभ्यता की मूल उत्पत्ति ग्रीस से है। यहाँ से रोमन सभ्यता ने जन्म पाया और फिर यूरोप के अन्य राष्ट्रों ने रोम से सभ्यता सीखी।

और दिव्य भावों को भुला गया है। वह यह नहीं देख पाती, कि इस राष्ट्रीय स्वार्थ से परे भी कोई उदार, दिव्य और विश्व-व्यापी तत्त्व या अस्तित्व है

अब पौर्वात्य सभ्यता को लीजिये। पहिले इसकी उत्पत्ति ही को देखिये। जब प्रारम्भ में आर्य लोग यहाँ आये थे, तब उन्होंने यहाँ बड़े बड़े जङ्गल पाये थे। उन्होंने प्रकृति की अपूर्व और सौन्दर्यशाली छटा में आकर निवास किया था। इन जंगलों से उन्होंने लाभ उठाया था। ये ही जंगल सूर्य की कड़ी धूप में उन्हें आश्रय देते थे, भयानक तूफानों से उनकी रक्षा करते थे और इन्हीं जंगलों से उन्हें अपने पशुओं के लिये घास, यज्ञ के लिये लकड़ी और झोपड़ी बनाने का सामान प्राप्त होता था। वे बहुत दिन तक इन्हीं प्रकृति-मनोहर जंगलों में रहे थे। आर्य्य-सभ्यता की उत्पत्ति इन्हीं जंगलों में हुई थी और यही कारण है कि पाश्चिमात्य सभ्यता से हमारी आर्य्य-सभ्यता भिन्न प्रकार की है, क्योंकि दोनों सभ्यताओं की उत्पत्ति भिन्न भिन्न परिस्थितियों में हुई। जहाँ हमारी सभ्यता प्राकृतिक जीवन में वेष्टित थी—प्रकृति ही से अन्न और वस्त्र ग्रहण करती थी और प्रकृति माता के साथ ही उसका दिन-रात संसर्ग रहता था, वहाँ पाश्चिमात्य सभ्यता का पोषण शहर के महा कोलाहलमय और स्वार्थी जीवन में हुआ। अर्थात् दोनों सभ्यताओं का जन्म परस्पर–विरोधी परिस्थिति में होने से दोनों के गुण और स्वभाव में भिन्नता होना स्वाभाविक था।

जो लोग घमण्ड के वश होकर हमसे यह कहते हैं, कि "तुम लोग जंगली थे, जंगलों में रहने के कारण तुम्हारी बुद्धि विकसित नहीं हुई, तुमने अपने रहन-सहन और जीवन की इयत्ता को बहुत संकीर्ण कर रखा था, इत्यादि", वे हमारी मूल प्रकृति को नहीं जानते। वे हमारी सभ्यता के रहस्य को नहीं पहिचानते—वे यह नहीं जानते, कि जंगल में रहने से आर्यों का मन दुर्बल नहीं हुआ था—उनकी कार्यकारी शक्तियों का प्रवाह मन्द नहीं हुआ था। हाँ, उस प्रवाह ने एक भिन्न मार्ग का अंगीकार अवश्य किया था। प्राचीन आर्य सतत प्रकृति-माता के मधुर सहवास में रहते थे; इससे उनके चित्त में विश्वप्रेम की भावनाओं का विकास होता गया। वे अपना राज्य बढ़ाने की तथा प्राप्त किये हुए राज्य के आसपास दीवाल बनाने की चिंता में न रहे। उनका आदर्श—उनका लक्ष्य—प्राप्ति करना न था, पर इस विश्व के मूल तत्व विश्वात्मा का दिव्य अनुभव करना था। आत्मा की उन्नति कर उस सर्वव्यापी विश्वात्मा के साथ उसका एकीकरण करना और अपने क्षुद्र व्यक्तित्व तथा स्वार्थों को भूला देना ही उनका लक्ष्य था। उन्होंने यह मालूम कर लिया था, कि सत्य तीनों कालों में नित्य एकसा रहनेवाला है और अविनाशी है। वे यह भी जानते थे, कि इस सर्व-व्यापी चैतन्य से भिन्न कोई चीज नहीं है। इस अचल सत्य को—इस सर्व व्यापी चैतन्य को—हम तब ही प्राप्त कर सकते हैं, जब हम एकचित्त होकर अपने क्षुद्र व्यक्तित्व को भूल जावें और विश्वात्मा

के उस सर्वव्यापी दिव्य प्रवाह में अपने आपको प्रवाहित करने लगें—विश्व के सकल चराचर पदार्थों से हम एकीभाव करलें; अर्थात् जब हम विश्वात्मा के सर्वव्यापी जीवन से अपनी आत्मा का संयोग करलें। यही हमारे पूर्वज आर्यों का—जंगल में निवास करनेवाले हमारे ऋषियों का—दिव्य आदर्श था।

इसमें सन्देह नहीं, कि यह स्थिति इसी रूप में सदैव नहीं रही। आगे चलकर हमारे पूर्वजों ने खेती करना आरम्भ किया, वे कई प्रकार के रोजगार—धन्धे करने लगे। उन्होंने बड़े बड़े शहर बसा दिये। बड़े बड़े राज्यों की उत्पत्ति होगई। संसार की समग्र शक्तियों के साथ उनका संबंध होगया, अर्थात् वे भौतिक दृष्टि से भी बहुत उन्नति पर पहुँच गये, पर इस समय भी उन्होंने अपना आदर्श जड़ सम्पत्ति न रखा। उनका आदर्श आत्म-विकास ही बना रहा। जंगलों में प्रकृति—माता के साथ रहकर उन्होंने सरलता की शिक्षा पाई थी, उसका प्रयोग वे इस समय भी करते रहे। उस एकान्त जीवन से उन्हें दिव्य प्रेरणाएँ सदैव मिलती रहीं। वे उसी ज्ञान का मनन करते रहे, जिसे उन्होंने जंगलों में प्राप्त किया था।

पश्चिम इस बात पर फूले अंग नहीं समाता, कि उसने प्रकृति पर बहुत कुछ विजय प्राप्त की है तथा निरंतर विजय प्राप्त करता जा रहा है। वह जिस बात का घमण्ड करता है, उससे यह मालूम होता है मानो हम विरोधी संसार

पौर्वात्य और पश्चिमात्य दृष्टिकोण में अंतर है। किसी पदार्थ को पूर्व जिस दृष्टि-बिन्दु से देखता है, पश्चिम उसी पदार्थ को एक भिन्न दृष्टि-बिंदु से देखता है। उदाहरण के लिये आप अपने रास्ते को लीजिये। यह बात सच है कि पूर्व और पश्चिम दोनों के मनुष्य को अपने निश्चित स्थान पर पहुँचने के लिये रास्ते पर चलना पड़ता है। पर पाश्चिमात्य मनुष्य यह समझता है कि यह रास्ता एक बाधा है, जो उसके और उसके निश्चित उद्देश के बीच पड़ा हुआ है; इस बाधा को शक्ति से प्रयास कर काटना पड़ता। इसके विपरीत पौर्वात्य मनुष्य इस रास्ते को बाधारूप नहीं समझता। वह समझता है कि यह रास्ता ही उसे उसके उद्देश तक पहुँचायेगा—यह उसके उद्देश का अंश है—उसकी सिद्धि का आरम्भ है और इसी पर प्रयास करने से वह अपनी सिद्धि के स्थान पर पहुँच जायगा। सारांश यह है, कि जहाँ पश्चिम इस चीज के रास्ते को बाधा रूप समझता है, वहाँ पूर्व उसे सहायक समझता है। भारत प्रकृति को भी इसी दृष्टि से देखता है वह प्रकृति को भिन्न नहीं समझता। वह समझता है कि प्रकृति के साथ उसका संबंध और एकीकरण है। पाश्चिमात्य लोग समझते हैं कि प्रकृति पर विजय पाकर उन्हें उसकी शक्तियों को वश करना पड़ता है, परन्तु पौर्वात्य लोग समझते हैं कि प्रकृति की शक्तियों के साथ उनकी इन्द्रियों का

में, शत्रु से घिरे हुए, जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यह विचार और ऐसी मानसिक प्रवृत्ति शहर की चहार-दीवारी के भीतर से उत्पन्न हुई स्पष्ट जान पड़ती है, क्योंकि शहर के जीवन में मनुष्य अपनी दृष्टि को अपने ही जीवन और कार्यों पर डालता है और इस तरह वह संकीर्ण होकर विश्व-प्रकृति और अपने बीच में एक बनावटी दीवाल खड़ी कर लेता है। पर भारत की दृष्टि इससे भिन्न है; वह सकल विश्व को एक महान् सत्य समझता है। भारत इस बात पर ज़ोर देता है कि विश्व और मनुष्य में एकता है। वह यह समझता है कि इस एकता ही के कारण हम विश्व के पदार्थों के साथ अपना संबंध जोड़ सकते हैं क्योंकि यदि हमारे आसपास का विश्व हमसे बिलकुल ही भिन्न प्रकार का होता, तो हम उसके साथ अपना संबंध कभी नहीं जोड़ सकते। मनुष्य प्रकृति के विरुद्ध यह शिकायत करता है कि उसे अपने आवश्यक पदार्थों को बड़े श्रम से प्राप्त करना पड़ता है। हाँ, यह बात सच है, पर साथ ही क्या यह बात भी सच नहीं है, कि उसका श्रम व्यर्थ नहीं होता है? वह सफल होता जाता है और यह सफलता ही इस बात की द्योतक है कि प्रकृति और मनुष्य में स्वाभाविक सम्बन्ध है, क्योंकि हम उस पदार्थ को अपना नहीं बना सकते जिसके साथ हमारा किसी प्रकार का संबंध नहीं है।

पौर्वात्य और पाश्चिमात्य सभ्यता।

पौर्वात्य और पश्चिमात्य दृष्टिकोण में अंतर है। किसी पदार्थ को पूर्व जिस दृष्टि-बिन्दु से देखता है, पश्चिम उसी पदार्थ को एक भिन्न दृष्टि-बिंदु से देखता है। उदाहरण के लिये आप अपने रास्ते को लीजिये। यह बात सच है कि पूर्व और पश्चिम दोनों के मनुष्य को अपने निश्चित स्थान पर पहुँचने के लिये रास्ते पर चलना पड़ता है। पर पाश्चिमात्य मनुष्य यह समझता है कि यह रास्ता एक बाधा है, जो उसके और उसके निश्चित उद्देश के बीच पड़ा हुआ है, इस बाधा को शक्ति से प्रवास कर काटना पड़ेगा। इसके विपरीत पौर्वात्य मनुष्य इस रास्ते को बाधारूप नहीं समझता। वह समझता है कि यह रास्ता ही उसे उसके उद्देश तक पहुँचावेगा—यह उसके उद्देश का अंश है—उसकी सिद्धि का आरम्भ है और उसी पर प्रवास करने से वह अपनी सिद्धि के स्थान पर पहुँच सकेगा। सारांश यह है, कि जहाँ पश्चिम इस बीच के रास्ते को बाधा-रूप समझता है, वहाँ पूर्व उसे सहायक समझता है। भारत प्रकृति को भी इसी दृष्टि से देखता है; वह प्रकृति को [illegible] । वह समझता है [illegible]

[illegible] रण है।

[illegible] पाकर उन्हें

[illegible] र्वात्य लोग

[illegible] शक्तियों का

एकीकरण है और इसीसे वे प्रकृति की शक्तियों को अपने काम में ला सकते हैं। पश्चिम में यह कल्पना बड़ी प्रबल है, कि प्रकृति में निर्जीव पदार्थ और पशु पक्षी ही शामिल हैं—जहाँ मानवी प्रकृति का आरंभ होता है, वहाँ जड़ प्रकृति में आकस्मिक भेद पड़ जाता है। पश्चिम के मतानुसार मनुष्य की श्रेणी से नीचे दर्जे का प्रत्येक पदार्थ प्रकृति है, इसके विपरीत जिसमें बौद्धिक या नैतिक पूर्णता की छाप लगी है, वह मानव प्रकृति है—अर्थात पश्चिमी संसार प्रकृति और मानव प्रकृति में अंतर समझता है। पर पश्चिम का यह खयाल ठीक नहीं। इन दोनों प्रकृतियों को विभक्त कर देना ठीक वैसा ही है, जैसे फूल की कली और मौर को भिन्न भिन्न श्रेणी में रखना।

भारत इस सृष्टि की एकता को केवल दर्शन-शास्त्र की कल्पना ही नहीं समझता है, पर इस एकता का आत्मिक अनुभव करना वह अपने जोवन का प्रधान उद्देश समझता है। उसके सब धार्मिक कार्य इस एकता को समझने के लिये होते हैं। उसकी प्रार्थनाएँ —उसका ध्यान—इस एकता का अनुभव करने के लिये होते हैं। वह हरएक पदार्थ को आध्यात्मिक दृष्टि से देखता है। पृथ्वी, जल, प्रकाश और फल-फूल, सबको वह केवल भौतिक पदार्थ ही नहीं समझता है। पर इनमें वह आत्मिक अनुभव भी करता है। वह इन पदार्थों को भी पूर्णता की सिद्धि के लिये आवश्यक समझता है। भारत स्वभावतः ही इस बात का अनुभव करता है कि

उसके लिये संसार के प्रत्येक पदार्थ का कुछ न कुछ आध्यात्मिक अर्थ है। वह विश्व के पदार्थों के साथ जो सम्बन्ध जोड़ता है, वह किसी वैज्ञानिक कुतूहल के लिये नहीं, किसी सामाजिक लाभ के लिये नहीं, किन्तु आत्मिक आनन्द और मन की शान्ति के लिये। इस सम्बन्ध को जोड़ते समय वह सहानुभूति के भावों से प्रेरित होता है।

वैज्ञानिक मनुष्य जानता है, कि यह संसार ठीक-ठीक वैसाही नहीं है, जैसा कि हमारी इन्द्रियों को ज्ञान होता है। वह जानता है कि यह पृथवी और जल केवल शक्तियों की गति-विधि के खेल हैं, जो इन रूपों में हमें दिखलाई पड़ते हैं। हम शक्तियों के इन खेलों को थोडासा जान सकते हैं। अब उस मनुष्य की बात लीजिये, जिसकी आध्यात्मिक दृष्टि खुली हुई है। वह इस सम्बन्ध में क्या कहता है? वह कहता है कि पृथ्वी और जल का अन्तिम सत्य ईश्वरी इच्छा में है, जो इन शक्तियों के रूपों में प्रगट हुआ करती है। यह बात आत्म-शक्ति से जानी जा सकती है और इस बात को जान लेने से हमें ईश्वरी एकता का दिव्य अनुभव होता है। यह अनुभव हमें जड़ शक्ति की ओर नहीं ले जाता, बल्कि यह अलौकिक परमानंद में हमारा प्रवेश कराता है। जो मनुष्य संसार में केवल इतना ही गहरा जाता है, जितना विज्ञान उसे ले जाता है, वह यह नहीं जान सकता

कि आध्यात्मिक दृष्टिवाला मनुष्य इन प्राकृतिक चमत्कारों के रहस्यों को कितनी अच्छी तरह समझता है। जहाँ वैज्ञानिक मनुष्य पदार्थ को केवल भौतिक दृष्टि से देखते हैं, वहाँ आध्यात्मिक मनुष्य उसकी अन्तरात्मा को जानने की चेष्टा करते हैं। उदाहरण के लिये, वैज्ञानिक पानी को दो प्रकार की वायु के मिश्रण का परिणाम समझते हैं और उसे तृषा बुझाने का तथा शरीर को साफ करने का साधन-मात्र मानते हैं, परन्तु हमारे आध्यात्मिक दृष्टिवाले पुरुष इस सीमा से पार जाकर यह भी समझते हैं कि जल हमारे हृदय को शुद्ध करता है। इन चीज़ों का सम्बन्ध केवल भौतिक ही नहीं है, बल्कि इनमें उस दिव्य चैतन्य का भी अनुभव किया जा सकता है। जब तक मनुष्य संसार से अपना असली सम्बन्ध नहीं समझता, तब तक वह उस बन्दीगृह में रहता है जिसकी दीवारें उसके लिये परकीय होती हैं। जब वह उस अनन्त और अविनाशी विश्वात्मा से अपना पूर्ण मेल-मिलाप कर लेता है और जब वह सकल विश्व के चराचर पदार्थों में उस विश्वात्मा का अनुभव करता है, तब आत्मा स्वतंत्र हो जाती है और वह उस संसार के असली तत्त्व तथा महत्त्व को समझने लगता है—तब उसे पूर्ण सत्य और पूर्ण ऐक्यानुभव का दिव्य आनन्द प्राप्त होता है। भारतवर्ष में लोग सदा से यह जानते आये हैं, कि आसपास के सब पदार्थों से उनका सम्बन्ध है और यही कारण है, कि वे उदय होते हुए सूर्य की, बहते हुए

तन की और पृथ्वी की अभ्यर्थना करते हैं। वे विश्व के सकल पदार्थों से प्रेम करते हैं यहाँ तक कि भारतवासियों के नित्यपाठ करने के गायत्री-मन्त्र में भी हम मनुष्य की ज्ञान-मय आत्मा का और विश्व की एकता का आशय पाते हैं। गायत्री से हमें यह बात ज्ञात होती है, कि इस सारे विश्व की एकता को वह परम पिता परमात्मा बनाये हुए है, जिसकी शक्ति इस पृथ्वी को उत्पन्न करती है, आकाश को बनाती है, तारों की रचना करती है और साथ ही हमारे मन को चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित करती है।

यह बात सच नहीं है कि भारत ने भिन्न-भिन्न पदार्थों के मूल्य की भिन्नताओं को नहीं समझा। उसे इस बात का पूर्ण ज्ञान है, क्योंकि इस बात को समझे बिना जीवन असम्भव हो जाता है। सृष्टि में मनुष्य का श्रेष्ठत्व किसमें है, इस बात को भारत कुछ निराली दृष्टि से देखता है। वह धन या अधिकार के होने में श्रेष्ठता नहीं समझता—वह विश्वात्मा से एकता करने की शक्ति प्राप्त करने में अपना श्रेष्ठत्व समझता है। भारतवर्ष ने अपने तीर्थों के स्थान वहाँ चुने हैं, जहाँ प्रकृति की सुमनोहर छटा अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ विकसित हो रही है। यह क्यों? इसलिये, कि ऐसे प्रकृति-मनोहर स्थानों में जाकर मनुष्य कुछ समय के लिये अपने [illegible] कर प्रकृति में उस अनंत [illegible] का सर्वव्यापी

संगीत सुने। विश्व-भर से प्रेम करने की इन दिव्य भावनाओं ही ने आर्य्यों का मांसाहार छुड़वाया है और सकल प्राणियों के लिये उनके हृदयों मे सहानुभूति और दया के भाव भर दिये है। यह बात संसार के इतिहास में अपूर्व और पश्चिम के लिये अनुकरणीय है।

आज-कल वे लोग बड़े उदार, सहृदय और दयावान समझे जाते है, जो मनुष्य-जाति के हित की बातें करते हैं। ऐसे मनुष्य आज-कल देवता समझे जाते हैं। हमारा भारतवर्ष हजारों वर्षों के पहिले से केवल मनुष्य-जाति ही से नहीं, बल्कि विश्व के समस्त प्राणियों से प्रेम करता आ रहा है। सूक्ष्म जन्तुओं से लगाकर बड़े बड़े जानवरों तक का हित उसके हृदय में समाविष्ट है, क्योंकि वह समझता है, कि केवल मनुष्य-जाति से प्रेम करने में उतनी उदारता नहीं, जितनी विश्व के सकल पदार्थों से प्रेम करने मे है।

सभ्यता एक प्रकार का ढाँचा है, जिसमें हरएक राष्ट्र अपने सर्वोत्कृष्ट आदर्श के अनुसार मनुष्यों को ढालता है। उसकी सारी संस्थाएँ, उसके आईन, उसकी शिक्षा—सब कुछ इसी उद्देश की सिद्धि के लिये प्रवृत्त रहता है। पश्चिम की आधुनिक सभ्यता, अपने सब सुसंगठित प्रयत्नों से, ऐसे आदमियों को तैयार कर रही है, जो मानसिक, बौद्धिक और नैतिक बल में पूर्ण हों। राष्ट्रों की प्रचण्ड शक्तियाँ इस

काम में खर्च हो रही है, जिससे उनके मनुष्य अपनी आस-पास की परिस्थिति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करलें और प्रकृति पर पूर्ण विजय प्राप्त कर उसकी शक्तियों को अपने काम में ला सकें। उन्हें यही शिक्षा दी जाती है, जिससे वे प्रकृति और अन्य जातियों से लड़ें। यही कारण है कि आजकल पाश्चात्य राष्ट्रों का आत्मभाव तो कम हो रहा है और उनके मनुष्य-संहारक अस्त्र-शस्त्र तथा इसी प्रकार के अन्य संगठन महाभीषण रूप धारण करते जा रहे हैं। इसका कारण विश्वात्मा की सर्वव्यापकता और एकीकरण को भूल जाना ही है।

भारत की प्राचीन सभ्यता के पूर्णता पर पहुँचने का आदर्श कुछ और ही ढंग का था। उसका आदर्श अमानवी शक्ति प्राप्त करना न था। उसने हमला करने के लिये सेना-संगठन करने में उत्साह प्रगट नहीं किया। उसने अन्य लोगों पर आक्रमण कर उन पर अधिकार करने की दुष्ट अभिलाषा न की। भारत के सर्वोत्कृष्ट महात्माओं ने आत्मा के अलौकिक प्रदेश में रमण कर विश्वात्मा से एकता का अनुभव करने ही में अपने जीवन की सर्वोपरि महत्ता समझी। उन्होंने इसी सर्वोत्कृष्ट रहस्य को समझने ही में अपने जीवन का बहुमूल्य भाग व्यय किया, जिससे उन्हें सांसारिक क्षेत्र में आधुनिक दृष्टि से कम सफलता मिली। पर जो कुछ उन्होंने ... कम था? वह एक महान् विजय

थी; वह मानवी आकांक्षाओं का इतना उत्कृष्ट विकास था, जिसकी कुछ सीमा नहीं। उस विश्वात्मा अनंत की सिद्धि का लाभ करना क्या कुछ कम है ?

भारतवर्ष में विद्वान थे, शूरवीर थे, राजनीतिज्ञ थे, राजा थे और सम्राट थे। भारत इन सबका यथोचित आदर करता रहा, पर उसने सब से अधिक आदर उन ऋषियों का किया, जिन्होंने आत्मानुभव किया था, जिन्होंने विश्वात्मा के साथ अपना ऐक्य-संबंध स्थापित किया था, और जिन्होंने आत्मिक संपत्ति से अपने को श्रीमान् बनाया था। ये ही ऋषि प्राचीन काल में हमारे प्रतिनिधि और मार्गदर्शक नेता समझे जाते थे। इनकी सेवा करने में–इनकी पूजा करने में–बड़े-बड़े राजा-महाराजा और सम्राट अपना परम सौभाग्य समझते थे। कारण यही है, कि भारत में सबसे बड़ा आदर्श ईश्वरी राज्य में प्रवेश करना समझा जाता था। ये ऋषि कौन थे ? ये ऋषि वे ही महानुभाव थे, जिन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त किया था, जिन्होंने सकल विश्व की एकता का अनुभव किया था, जिन्होंने विश्व के प्रेम में अपने क्षुद्रत्व को भुला दिया था, जो सकल चराचर विश्व में उस अनंत परमात्मा को देखते थे और जिन्होंने सकल विश्व के साथ अपनी एकता को सिद्ध कर लिया था।

मनुष्य इसलिये बड़ा नहीं है कि वह नाश कर सकता है, लूटता खसोटता है, कमाता है और जमा कर सकता है।

वह बड़ा इसलिये है कि उसकी आत्मा इन सब बातों को समझ सकती है। जो मनुष्य अपनी आत्मा को संकीर्ण सीमा में बंद रख विश्व की ओर से अपने चित्त को हटा लेता है, उसकी आत्मा का बुरी तरह पतन होजाता है। मनुष्य अपना तथा समाज का गुलाम नहीं है–वह उसका प्रेमी है। मनुष्य की स्वाधीनता और सिद्धि प्रेम में है। इस प्रेम से मनुष्य उस सर्वव्यापी जगदात्मा के साथ अपना ऐक्य-सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और उसे ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो सकती है। उपनिषद् कहते हैं, कि यदि तुम ब्रह्म को प्राप्त करना चाहते हो, तो सकल चराचर विश्व से प्रेम करो। धन के पीछे पड़कर तुम अपने जीवन के अमूल्य तत्वों को भुला देते हो, पर इससे तुम्हारे जीवन के पूर्णता पर पहुँचने के रास्ते में भारी बाधा पड़ती है।

यूरोप के कुछ आधुनिक विद्वान कहते हैं, कि हिन्दुओं का ब्रह्म और कुछ नहीं, केवल भ्रम है–उसका कोई वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है। उनके मतानुसार हिंदुओं का ब्रह्म केवल आध्यात्मिक ग्रन्थों में है, अन्यत्र उसका कहीं अस्तित्व ही नहीं है। दुर्भाग्य-वश कितने ही पाश्चात्य विद्या-विशारद हिन्दुओं की भी ऐसी ही कल्पना होगई है। पर इस बात को हिन्दू-हृदय स्वीकार नहीं कर सकता; वह जानता है, कि इन पाश्चात्य विद्वानों ने ब्रह्म के असली स्वरूप को नहीं

समझा। हिन्दू लोग ब्रह्म को भ्रम नहीं समझते, वरन विश्व के सकल चराचर पदार्थों में वे ब्रह्म के अस्तित्व का अनुभव करते हैं। वे विश्वास करते हैं, कि वे जो कुछ देखते हैं, वह सब ब्रह्म-मय है। हिन्दू विश्व के सकल पदार्थों में केवल ब्रह्म के अस्तित्व का अनुभव ही नहीं करते हैं, वरन सब जगह वे उसका दर्शन भी करते हैं। हिन्दू लोग जो प्रार्थना करते हैं उसमें वे कहते हैं कि—"मैं उस परम पिता परमात्मा को नमस्कार करता हूँ, जो अग्नि में है, जल में है, स्थल में है, जो सारे विश्व में व्याप्त है।" क्या इस प्रकार के ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता? पर इस अस्तित्व का ठीक-ठीक अनुभव करने के लिये दिव्य दृष्टि की आवश्यकता है। जिस मनुष्य की दृष्टि दिव्य हो गई है, जिसे ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो गई है, वही मनुष्य ईश्वर के दर्शन का अलौकिक आनन्द प्राप्त कर सकता है। उसे सारे विश्व में केवल ब्रह्म ही ब्रह्म दिखलाई देता है। वह अनुभव करने लगता है कि "सर्व खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीताथ," अर्थात यह सब ब्रह्म है, उसीसे सब उत्पन्न होता है, उसीमें लय होता है और सब उसीकी शक्ति से स्थित है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा है—

"सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदम्
भ्यात्तोऽवाक्य नादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्म।"

अर्थात् वह चलता है, नहीं भी चलता है, वह दूर भी है-पास भी है, वह इस सब संसार के भीतर है और बाहर भी व्याप्त है ।

" एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकरूपम बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

अर्थात् वही एक सबका शासक है और वही एक सब प्राणियों की अन्तरात्मा है । वह अपने गुण को अनेक रूपों में प्रगट करता है । जो बुद्धिमान यह समझता है, कि वह मेरे हृदय में स्थित है, वह अनन्त सुख प्राप्त करता है ।

विश्वर रवीन्द्रनाथ कहते हैं, कि अपनी आत्मा को विश्व-प्रेमी बनाने के लिये हमें अनन्त परब्रह्म परमात्मा से अपनी आत्मा की एकता स्थापित करनी चाहिये । मानव जाति की सभी उन्नति इसीमें है कि वह अपनी आत्मा को उस परम-आत्मा में तन्मय करती रहे और इस तरह आत्मिक उदारता को बढ़ाती रहे। विश्वव्यापी प्रेम से अपनी आत्मा को भरना ही मनुष्य का उच्च ध्येय है । रवीन्द्रनाथ कहते हैं, कि हमारी सब कविताओं, तत्वज्ञान, विज्ञान, कला और धर्म का यही उद्देश्य होना चाहिए कि हमारी आत्मा का क्षेत्र बढ़ता रहे—वह दिन-दिन उच्च तत्वों को प्राप्त करती जावे । वे हमें शिक्षा देते हैं, कि मनुष्य-जाति के जो दिव्य अधिकार और सच्चे हक हैं, वे राज्य बढ़ाने से नहीं

मिलते, न बाहरी वैभव से ही प्राप्त होते हैं—वे तो आत्मा की उदारता को विश्वव्यापक करने ही से प्राप्त हो सकते हैं।

आत्मा की उदारता किस प्रकार व्यापक की जा सकती है? किस प्रकार आत्मिक स्वाधीनता की प्राप्ति हो सकती है? इसके लिये हमें क्या मूल्य देना पड़ता है? इन प्रश्नों के उत्तर में रवीन्द्रनाथ कहते हैं, कि तुम उस विश्वात्मा में अपने व्यक्तित्व को भुला दो। आत्मिक संकीर्णता को छोड़कर उसे विश्व में व्याप्त अनंत जीवन में मिला दो। अपने स्वार्थ को—अपनी व्यक्तिगत लालसाओं को—भूल जाओ। सारे विश्व को—सकल प्राणियों के कल्याण को—अपने अंतःकरण में आश्रय दो। यह समझो कि सारे विश्व में परमात्म-जीवन व्याप्त है और हमारा जीवन उसीका अंश है। सारा विश्व एक है और सृष्टि के सकल प्राणियों से हमारा बंधुत्व का नाता है। इन भावों के प्रचार से संसार के सुख की मात्रा में असीम वृद्धि होगी और सारी मनुष्य-जाति एक अलौकिक सुख और शान्ति प्राप्त करेगी। संसार में दिव्य ज्योति चमकने लगेगी। चहुँओर विश्व-व्यापी प्रेम तथा विश्व-बंधुत्व की सुमधुर ज्योत्स्ना छिटकने लगेगी और क्षुद्र स्वार्थों के लिये मनुष्यों में जो परस्पर भीषण युद्ध होते हैं, जो लाखों प्राणियों का व्यर्थ ही बलिदान होता है, उसका अन्त हो जावेगा। आत्मज्ञानी रवीन्द्रनाथ का यही दिव्य सन्देश है।

चौदहवाँ अध्याय।

प्रेम से सिद्धि।

अनन्त जीवन और सान्त जीवन में तथा आत्मा और परमात्मा में क्या सम्बन्ध है, यह प्रश्न अनन्त काल से चला आरहा है। यह बात दिखने में बड़ी टेढ़ी मालूम होती है, कि अनन्त और सान्त जीवन में एकीकरण हो सकता है, क्योंकि सान्त और अनन्त ये शब्द ही स्वरूपतः परस्पर–विरोधी दिखलाई देते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि हमारा सान्त जीवन उस अनन्त जीवन का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सकता है; क्योंकि जब हम अनन्त जीवन ही में रहते हैं, तब हम उसका पता कैसे पा सकते हैं? किसी पदार्थ का पूरी तरह से पता पाने लिये हमें उस पदार्थ से कुछ अलग होकर दूर रहने की आवश्यकता होती है। आँखें स्वयं अपने को नहीं देख सकतीं—अपने से भिन्न पदार्थ ही को देख सकती हैं। यह सिद्धान्त यद्यपि तर्क-शास्त्र की दृष्टि से सत्य मालूम होता है, तथापि वह यथार्थ में पूर्ण सत्य नहीं है। तर्कशास्त्र के अनुसार दो बिन्दुओं के बीच का अन्तर अनन्त

कहा जा सकता है, क्योंकि उसके अनन्त टुकड़े हो सकते हैं— वह अनन्त विभागों में बाँटा जा सकता है। पर क्या यह बात वास्तविक रूप में सत्य है? क्या हम अनन्त को इस प्रत्येक क्षण में—प्रत्येक पद पर—नहीं लाँघ सकते? क्या हम पल-पल में इसका स्पर्श नहीं करते? इसीलिये हमारे कुछ दार्शनिक तत्त्व-वेत्ता कहते हैं, कि ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है, जो सान्त है—वह केवल माया और भ्रम है। सत्य अनन्त है और जो हमें सान्त दिखलाई देता है, वह केवल माया या असत्य है, और माया भी केवल शब्द-मात्र है। इसका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। इसका स्पष्टीकरण केवल यही किया जा सकता है, कि सत्य के साथ असत्य रहना चाहिये और माया सत्य का उलटा अर्थात् असत्य है। पर यह समझ में नहीं आता कि ये दोनों अर्थात् सत्य और असत्य साथ ही साथ एक ही समय कैसे रह सकते हैं?

देखा जाता है कि इस सृष्टि में परस्पर-विरोधी गुणों की शक्तियाँ रहती हैं। जहाँ इस सृष्टि में आकर्षण-शक्ति दिखलाई देती है, वहाँ विकर्षण-शक्ति भी पाई जाती है, और जहाँ इस सृष्टि में केन्द्रोन्मुख-बल दिखलाई देता है वहाँ केन्द्र-पराङ्मुख-बल भी पाया जाता है। पर ये केवल नाम-मात्र हैं। इनसे स्पष्टीकरण नहीं होता; इनसे केवल यह मालूम होता है कि यह सृष्टि दो विभिन्न शक्तियों की जोड़ियों का मेल है। ये

दोनों विरोधी शक्तियाँ, जगत्कर्ता के दाहिने और बाँयें हाथ की तरह, मेलजोल के साथ, भिन्न भिन्न मार्गों में काम करती हुई भी पूरे प्रेम के साथ रहती हैं।

हमारी दोनों आँखों के बीच एकता का सूत्र है, जो उनसे मेल के साथ काम कराता है। इसी प्रकार भौतिक संसार में भी पूर्ण एकता दिखलाई देती है। गरमी और सरदी में, प्रकाश और अँधेरे में, गति और विश्राम में बड़ा भारी मेल दिखलाई देता है। यही कारण है कि इन परस्पर-विपरीत शक्तियों के रहते हुए भी विश्व का कार्य्य बड़े ही नियमपूर्वक हो रहा है, उसमें किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं हो रही है। इन परपस्पर-विपरीत शक्तियों के काम करते रहने पर भी विश्व की साम्यावस्था अटल रूप से बनी हुई है। हाँ, यदि हम इस विश्व में भयंकर अव्यवस्था देखते, इसमें किसी प्रकार के नियम का अस्तित्व नहीं पाते, तो हम यह मान लेते कि ये विपरीति तत्त्व एक दूसरे पर श्रेष्ठता स्थापित करने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं और ये मेल के साथ अपना भिन्न भिन्न काम नहीं कर रहे हैं। विश्व की कोई शक्ति पागल होकर काम नहीं करती, यहाँ सब शक्तियाँ अलग अलग रास्तों में काम करती हुई भी मेल से काम करती हैं और यही कारण है, कि विश्व की साम्यावस्था बनी हुई है। यह विश्व समुद्र की तरह है, जहाँ ये शक्तिरूपी लहरें एक दूसरे की प्रति-स्पर्धा करती हुई एक-

दूसरी के पीछे उठती है और किसी सीमा तक ऊँची उठकर फिर ज्यों की त्यों समुद्र में मिल जाती है। पर क्या इसमें समुद्र की साम्यावस्था—शान्ति—में कुछ बाधा पड़ती है? कुछ नहीं। सारांश यह है कि विश्व की इन विपरीत गुण-धर्मवाली शक्तियों में भी एकता का सूत्र है, विरोध का सूत्र नहीं।

एकता का यह तत्त्व सृष्टि के सब रहस्यों का रहस्य है। हमारे मनमें द्वैतभाव का प्रश्न उठतेही हम उसमें 'एक' को देखने लगते हैं। हम तबतक नहीं ठहरते जबतक हमें इस द्वैत के मूल में एकता का सूत्र नहीं दिखलाई देता। इस एकता के सूत्र को देखने ही से हमें यह मालूम होने लगता है कि हम सत्य तक पहुँच गये हैं। इसी समय हमें अनेक में एक दिखलाई देता है और मालूम होने लगता है, कि सत्य के विरुद्ध हमें जो कुछ दिखलाई देता है, वह भी उससे अभिन्न नहीं है। जब हमारे कुछ वैज्ञानिक लोग प्रकृति की विभिन्नता में नियम की एकता का पता प्राप्त कर लेते हैं, तब वे इस अलौकिक रहस्य की भावना को, जोकि सब आनन्द की जड़ है, भुला देते हैं। ऐसे मनुष्य आकर्षण-शक्ति में कोई अलौकिक रहस्य नहीं देख पाते—उनकी समझ में वृक्ष से फल का गिर जाना आकर्षण-शक्ति का रहस्य-मात्र है। उनकी राय में सृष्टिक्रम ही विकास का रहस्य है। परन्तु सच बात यह है, कि किसी बात के नियम का पता लग जाने पर हम उसी तक ठहर जाते

हैं; हम समझ लेते हैं, कि अब हमारे आगे बढ़ने की सीमा समाप्त हो चुकी। इससे हमारी बुद्धि को तो संतोष हो जाता है, पर हमारी आत्मा को संतोष नहीं होता। इस संकीर्ण भावना में अनन्त तक पहुँचने की, हमारी दिव्य अभिलाषा को धक्का पहुँचता है।

यदि हम किसी महाकाव्य को लेकर उसका विश्लेषण करें, तो हमें वह केवल भिन्न-भिन्न अक्षरों और शब्दों का संग्रह-मात्र दीख पड़ेगा। पर वह पाठक, जो उसके आन्तरिक अर्थ को—उन शब्दों के इंगित को—ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है, उस नियम का पता लगा लेता है जो इस काव्य में व्याप्त है और जिसका कभी किसी अंश में भी भंग नहीं होता। वह उन शब्दों में भावनाओं के विकास के तथा संगीत के नियम की प्राप्ति करलेता है। पर नियम स्वयं ही सीमा-बद्ध है—नियम का अर्थ ही यह है, कि उसके अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। भाषा सीखते समय जब हम खाली शब्दों से आगे बढ़कर शब्दों के नियमों को पाते हैं, तब हम समझ लेते हैं, कि हमने बहुत कुछ जान लिया। यदि हम यही तक ठहर जावें और भाषा के बाह्य सौन्दर्य्य ही पर मुग्ध होकर बैठ रहें, तो हम भाषा के आन्तरिक अर्थ और मर्म तक नहीं पहुँच सकते। व्याकरण, अलंकारशास्त्र आदि के नियम भाषा में तथा काव्य में पाले जाते हैं, पर वे स्वयं भाषा नहीं हैं।

भाषा में व्याकरण के नियम रहते हैं, पर भाषा के आन्तरिक अर्थ से जो आनन्द होता है, वह इन नियमों से परे है। यद्यपि रवीन्द्रनाथ यह मानते हैं, कि सकल सृष्टि में नियम वर्तमान है, पर वे इन नियमों के परे भी किसी अलौकिक शक्ति की कल्पना करते हैं। वे यह मानते हैं कि किसी महाकाव्य के अलंकार, शब्द-रचना आदि के नियम जानना मन के लिये संतोष का विषय हो सकता है, पर आत्मा के लिये तो उस काव्य के भीतर भरे हुए आन्तरिक रहस्य के सिवा परम आनन्द का विषय और कुछ नहीं हो सकता। रवीन्द्रनाथ के मतानुसार सत्य के अन्तिम सिरे पर वही मनुष्य पहुँचा हुआ है जो ऊपरी नियमों तक ही नहीं रुक जाता, अर्थात् जो विश्व की उस अलौकिक और आनन्दमय शक्ति का अनुभव करता है, जो इन सब नियमों के परे है। जो संसार की सब चराचर वस्तुओं में एकशक्ति की—ऐक्य-भावना—की कल्पना कर सकते हैं, उन्हें चहुँओर एकता का सूत्र दिखलाई दिये बिना नहीं रहता। इसी एकता का अनुभव करना मानवजाति का सर्वोत्कृष्ट ध्येय है। इसी एकता का अनुभव करने से मानवी हृदय में सर्वोत्कृष्ट सुख और आनन्द का जन्म होता है। इसी एकता से मानवी हृदय में विश्वव्यापी प्रेम और विश्व-बन्धुत्व का पवित्र झरना बहने लगता है। इसी एकता के भावों के विकास से संसार में वास्तविक और उज्ज्वल सभ्यता का विकास होगा। जब मनुष्य-जाति इस उत्तम स्थिति पर पहुँचेगी,

दिव्य प्रेम से गद्गद् हो उठता है, वैसेही शान्ति-मय निर्मल आकाश और झर-झर बहनेवाले सुन्दर झरने को देखकर उसके हृदय में परमात्म-प्रेम का स्रोत लहराने लगता है। तब सृष्टि में उसे आनन्द और प्रेम के अतिरिक्त और कुछ दिखलाई नहीं देता। उसका लक्ष्य सदैव उस सर्वव्यापी तत्त्व की ओर लगा रहता है, जो इस विश्व में व्याप्त है। विश्व की सकल विभिन्नताओं में—संसार की दृश्यमान विरोधी शक्तियों में—उसे वही एक सत्य दिखलाई देता है, उसकी दृष्टि दिव्य-दृष्टि हो जाती है, उसका हृदय ईश्वरी हृदय हो जाता है। उसकी स्थिति स्वर्गी स्थिति हो जाती है और उसे सारे विश्व में अनन्त सुख, अनन्त शान्ति, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त ऐश्वर्य दिखलाई देने लगते हैं। वह इस झंझट-भरे संसार में रहते हुए भी सदैव अलौकिक आनन्द के दिव्य समुद्र में तैरा करता है और उसे चारों ओर अनन्त सुख के अतिरिक्त कुछ दिखलाई नहीं देता।
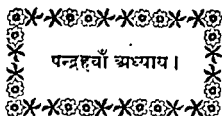
पन्द्रहवाँ अध्याय।

अनन्त की प्राप्ति।

हमारे ऋषि-महात्माओं ने मनुष्यजीवन का सर्वोत्कृष्ट ध्येय सर्वशक्तिमान, अनन्त परमात्मा की प्राप्ति बतलाया है। हमारे उपनिषद् कहते हैं कि "मनुष्य तब ही सच्चा मनुष्य हो सकता है, जब वह ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करले।" वह मनुष्य बड़ा अभागा है, जिसने मनुष्य-योनि में जन्म पाकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया। पर प्रश्न यह उठता है, कि ईश्वर की प्राप्ति कैसे की जा सकती है—ब्रह्म-ज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है? यह बात स्पष्ट है कि परमात्मा संसार के अन्य पदार्थों की तरह नहीं है; वह ऐसा नहीं है, जिसे हम धरोहर की तरह अपने पास समेटकर धरलें। वह ऐसा नहीं है, जिसको हम अपनी राजनीति में, धन कमाने में तथा सामाजिक प्रतिस्पर्धा के समय काम में ला सकें। हम परमात्मा को उस सूची में नहीं रख सकते, जिसमें हम अपने धन को, अपने बंगलों को तथा अपने सामानों को रख सकते हैं। हमें उस अभिलाषा
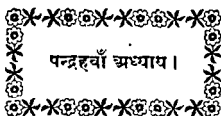
पन्द्रहवाँ अध्याय।

अनन्त की प्राप्ति।

हमारे ऋषि-महात्माओं ने मनुष्यजीवन का ध्येय सर्वशक्तिमान, अनन्त परमात्मा की प्राप्ति बत हमारे उपनिषद् कहते हैं कि "मनुष्य तब ही सच्चा मनुष्य हो सकता है, जब वह ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करले।" वह मनुष्य बड़ा अभागा है, जिसने मनुष्य-योनि में जन्म पाकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया। पर प्रश्न यह उठता है, कि ईश्वर की प्राप्ति कैसे की जा सकती है—ब्रह्म-ज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है? यह बात स्पष्ट है कि परमात्मा संसार के अन्य पदार्थों की तरह नहीं है; वह ऐसा नहीं है, जिसे हम धरोहर की तरह अपने पास समेटकर धरलें। वह ऐसा नहीं है, जिसको हम अपनी राजनीति में, धन कमाने में तथा सामाजिक प्रतिस्पर्धा के समय काम में ला सकें। हम परमात्मा को उस सूची में नहीं रख सकते, जिसमें हम अपने धन को, अपने बंगलों तथा अपने सामानों को रख सकते हैं। हमें उस

यह कहा जाता है, कि अनन्त परमात्मा हमारी पहुँच से बाहर है, अतएव हमारे लिये उसका होना न होना बराबर है पर यह बात तब ठीक हो सकती है, जब पहुँच और प्राप्ति का अर्थ किसी पदार्थ को प्राप्त कर अपने पास रखने का हो। ऐसी स्थिति में परमात्मा अप्राप्य है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती है—हमें परमात्मा में मिल जाना होता है और इसे ही आध्यात्मिक संसार में परमात्मा की प्राप्ति कहते हैं। इसे हम प्राप्ति भी कह सकते हैं, और अप्राप्ति भी, क्योंकि परमात्मा अनन्त है और उस अनन्त की प्राप्ति का पार ही नहीं। उसे प्राप्त कर लेने पर भी वह अनन्त ही है और अनन्त होने के कारण फिर भी उसका प्राप्त करना शेष रह जाता है। हमें जब भूख लगती है तब पेट-भर भोजन कर लेने से भूख मिट जाती है क्योंकि इस भूख की सीमा बिलकुल संकीर्ण रहती है। पर उस अनन्त को प्राप्त करने की आध्यात्मिक भूख निस्सीम है—अनन्त है। इस अनन्त में जैसे-जैसे मिलते जाओ, इसे जैसे-जैसे प्राप्त करते जाओ; वैसे-वैसे अधिकाधिक आनन्द होता जावेगा। इस अद्वितीय आनन्द का अन्त कभी न होगा। परमात्मा जैसे निस्सीम है, उसमें मिल जाने का आनन्द भी वैसे ही निस्सीम है। एक वैष्णव कवि ने कहा है, "अहा! मैं तेरे सौन्दर्यशाली मुखड़े को जन्म से देख रहा हूँ, पर

दिव्य दर्शन होने लगेंगे और उसकी खोज में भटकना न पड़ेगा। इस दशा में मनुष्य जिधर दिव्य नेत्र उठाकर देखेगा उधर ही उसे उसके दिव्य दर्शन होंगे।

पर यह स्थिति प्राप्त करने के लिये हमें क्या करना चाहिये? भगवान बुद्ध कहते हैं कि इसके लिये हमें स्वार्थमय जीवन के क़ैदखाने से बाहर निकल जाना चाहिये। हमें अपने अहंभाव को—अपने मन, वचन, काया को—उसकी भक्ति में सम्पूर्णतया भुला देना चाहिये। मन्दिर में जाकर पूजा के ढोंग करने से तथा तिलक-छाप लगाकर बाहरी प्रपंच रचने से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। उसकी प्राप्ति का उपाय यही है, कि हम अपने आपको उस नित्य और अनन्त तत्व में मिला देना सीखें। हम उन बाधाओं को हटावें, जो उसके और हमारे ऐक्य के मार्ग में उपस्थित होती हैं। हम उसकी आत्मिक पूजा करें; हम अपने हृदय को पूर्ण प्रेम-मय और भक्ति-मय बनाकर उस अनन्त तत्व में तल्लीन हो जाया करें। इसी तरह अपने सर्वोत्कृष्ट समुज्ज्वल गुणों का विकास करें, हम नित्य-प्रति इस सत्य तत्व के दर्शन करने का अभ्यास किया करें। हम प्रतिक्षण यह अनुभव किया करें कि उस सर्वव्यापी परम आनन्दमय परमात्मा की विश्वव्यापिनी शक्ति के बिना हम एक क्षण भी नहीं जी सकते। हमें अपने सब कामों में उस परमात्म-शक्ति का अनुभव कर आनंदित होना चाहिये, जो हमारे जीवन का जीवन है।

यह कहा जाता है, कि अनन्त परमात्मा हमारी पहुँच से बाहर है, अतएव हमारे लिये उसका होना न होना बराबर है पर यह बात तब ठीक हो सकती है जब पहुँच और प्राप्ति का अर्थ किसी पदार्थ को प्राप्त कर अपने पास रखने का हो। ऐसी स्थिति में परमात्मा अप्राप्य है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती है—हमें परमात्मा में मिल जाना होता है और इसे ही आध्यात्मिक संसार में परमात्मा की प्राप्ति कहते हैं। इसे हम प्राप्ति भी कह सकते हैं, और अप्राप्ति भी, क्योंकि परमात्मा अनन्त है और उस अनन्त की प्राप्ति का पार ही नहीं। उसे प्राप्त कर लेने पर भी वह अनन्त ही है और अनन्त होने के कारण फिर भी उसका प्राप्त करना शेष रह जाता है। हमें जब भूख लगती है तब पेट-भर भोजन कर लेने से भूख मिट जाती है क्योंकि इस भूख की सीमा बिलकुल संकीर्ण रहती है। पर उस अनन्त को प्राप्त करने की आध्यात्मिक भूख निस्सीम है—अनन्त है। इस अनन्त में जैसे-जैसे मिलते जाओ, इसे जैसे-जैसे प्राप्त करते जाओ; वैसे-वैसे अधिकाधिक आनन्द होता जावेगा। इस अद्वितीय आनन्द का अन्त कभी न होगा। परमात्मा जैसे निस्सीम है, उसमें मिल जाने का आनन्द भी वैसे ही निस्सीम है। एक वैष्णव कवि ने कहा है, "अहा! मैं तेरे सौन्दर्यशाली मुखड़े को जन्म से देख रहा हूँ, पर

अधिकार के पदार्थों मे फँसे हैं, तब हम उस की परवाह नहीं करते। यथार्थ ज्ञान होने पर मनुष्य अपने जीवन को क्षुद्र सांसारिक पदार्थों में नहीं लगाता। क्षुद्र वस्तुओं में अपने को फँसाये रखना सचमुच बड़े दुःख का चिन्ह है। मनुष्य तभी आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है, जब वह इन सांसारिक क्षुद्र पदार्थों से परे जाकर त्याग के अलौकिक साधन द्वारा अनन्त जीवन के मार्ग पर लग जावे।

समाप्त

फिर भी मेरे नेत्रों की प्यास ज्यों की त्यों बनी हुई है। मैंने तुझे हजारों वर्षों से अपने हृदय में रखा है, पर फिर भी मेरा हृदय अतृप्तही है।"

अनन्त की सिद्धि का मार्ग अनन्त है। हम इस मार्ग में जैसे-जैसे आगे बढ़ते जावेंगे, हमारा आनन्द भी वैसे ही बढ़ता जावेगा; इस आनन्द का अन्त कभी नहीं होगा। हम जब किसी क्षुद्र सांसारिक वस्तु की अभिलाषा करते हैं तब उसकी सिद्धि अथवा प्राप्ति होने पर हमारा आनन्द मिट जाता है। परन्तु परमात्मा की सिद्धि अनन्त है, वैसे ही उसका आनन्द भी अनन्त है। वह मनुष्य कितना अभागा है, जो दिन-रात क्षुद्र पदार्थों की सिद्धि में लगा रहता है और उस अनन्त की सिद्धि के अनन्त सुखों के मार्ग को अपने लिये बन्द कर लेता है!

हम देखते हैं कि मानव-इतिहास में त्याग की भावना को मानवी आत्मा का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य बतलाया है। जब कोई यह कहे कि "मैं इसे नहीं चाहता, क्योंकि मैं इससे उच्च हूँ", तब वह अपने में निवास करनेवाले उच्च तत्व का प्रकाश करता है। जिस तरह कोई लड़का बड़ा हो जाने पर अपने खिलौनों को फेंक देता है, क्योंकि वह जान लेता है, कि वह उनसे उच्च है, उसी प्रकार जब हम जान लेते हैं कि हम अपने

अधिकार के पदार्थों से ऊँचे हैं, तब हम उस की परवाह नहीं करते। यथार्थ ज्ञान होने पर मनुष्य अपने जीवन को क्षुद्र सांसारिक पदार्थों में नहीं लगाता। क्षुद्र वस्तुओं में अपने को फँसाये रखना सचमुच बड़े दुःख का चिन्ह है। मनुष्य तभी आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है, जब वह इन सांसारिक क्षुद्र पदार्थों से परे जाकर त्याग के अलौकिक साधन द्वारा अनन्त जीवन के मार्ग पर लग जावे।

समाप्त